प्रकाशक :

साहित्य भवन लिमिटेड,

प्रयाग ।

प्रथम संस्करण, १९४९

मूल्य १॥)

मुद्रक :

जगतनारायण लाल,

हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

परिचय

डा० रामकुमार वर्मा की जन्म-भूमि मध्यप्रदेश है। आपके पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद जी वर्मा, एक उच्च पद पर सरकारी कर्मचारी थे। उन्हें अपने कार्य-निरीक्षण के लिए मध्यप्रदेश के कोने-कोने में जाना पड़ता था, इसलिए कुमार की शिक्षा भिन्न-भिन्न स्थानों में और मराठी से प्रारम्भ हुई। आपको हिन्दी की प्रारम्भिक शिक्षा देने का श्रेय माता राजरानी देवी को है, जो उस समय की हिन्दी कवयित्रियों में विशेष स्थान रखती थीं।

कुमार में प्रारम्भ से ही प्रतिभा के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते थे। ये अपनी कक्षा में सदैव प्रथम आया करते थे। पठन-पाठन के साथ-साथ आप शाला के अन्य कार्यों में भी काफ़ी सहयोग देते थे। अभिनेता बनने की आपकी बड़ी प्रबल इच्छा थी। आपने अपने विद्यार्थी जीवन में कई नाटकों में एक सफल अभिनेता का कार्य भी किया है। मालूम होता है, इसी कारण वर्माजी के नाटकों में पूर्णरूप से स्वाभाविकता है; क्योंकि अभिनेता नाट्य-कला की विशेषताओं से भलीभाँति परिचित रहता है।

आप सन् १९२२ में 'इन्ट्रेन्स क्लास' में पहुँचे। इसी समय प्रबल वेग से असहयोग की आँधी उठी और आप राष्ट्र-सेवा में हाथ बँटाने लगे तथा एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता के रूप में जनता के सम्मुख आये।

इसके बाद वर्माजी ने फिर अध्ययन प्रारम्भ किया और सब परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करते हुए, प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी लेकर एम० ए० हो गए। आप एम० ए० में सर्वप्रथम आये थे। वर्माजी आजकल प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी के रीडर हैं। आपको नागपुर

विश्वविद्यालय की ओर से 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पर 'डाक्टरेट' दी गयी है।

वर्माजी हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, एकांकी नाटक-लेखक और आलोचक हैं। 'चित्र-रेखा' नामक काव्य-संग्रह पर आपको २०००) का देव पुरस्कार मिल चुका है और 'चन्द्र-किरण' पर आप चक्रधर-पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। आपको एकांकी नाटकों के संग्रह 'सप्त किरण' पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन द्वारा रत्न-कुमारी पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

प्रस्तावना

नाटक—

भारतीय काव्य के आचार्यों ने काव्य को दृश्य और श्रव्य दो भागों में विभक्त किया है। साहित्य-क्षेत्र में श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य के श्रेष्ठ होने का यह कारण तो है ही कि जहाँ श्रव्य-काव्य केवल कानों द्वारा आनन्द-रस का उद्रेक करता है, वहाँ दृश्य-काव्य कानों और आँखों दोनों मार्गों द्वारा। नाटक दृश्य-काव्य है। नाटक में किसी एक चरित्र के उत्थान-पतन का सम्पूर्ण-चित्रण रहता है, जो भिन्न-भिन्न नटों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। नाटक में अभिनय करने वाला किसी अन्य व्यक्ति का रूप धारण कर, उसके अनुसार आचरण करता है, इसलिए नाटक को रूपक की संज्ञा भी दी गई है। भारतवर्ष में नाट्य-शास्त्र पर सबसे पहला ग्रन्थ भरत-मुनि का मिलता है। भरत-मुनि ने नाटक को 'रूपक' कहा है और उसके दो विभाग 'रूपक' और 'उपरूपक' किये हैं। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद हैं। उन्होंने नाटक के प्रधान अंग तीन माने हैं—वस्तु (कथा), नेता (नाटक का नायक) और रस। नाटक पर इन तीन बातों पर पूर्णरूप से ध्यान जाता है और जिस प्रकार महाकाव्य तथा उपन्यास के नायक के चरित्र-विकास करने के लिए कितने ही उपनायकों, घटनाओं और परिस्थितियों की सृष्टि आवश्यक हो जाती है, वही बातें सफल नाटक की सृष्टि के लिए भी आवश्यक हो जाती हैं।

एकांकी नाटक—

एकांकी नाटकों का अनेकांकी नाटक से केवल उतना ही सम्बन्ध है;

जितना लघु आख्यायिका का उपन्यास से। जिस प्रकार आख्यायिका कथा-क्रम में उपन्यास से सम्बन्धित रहते हुए भी, अपना एक अलग अस्तित्व रखती है और उसकी कथा-वास्तु, शैली और चरम-सीमा (Climax) अपनी निजी होती है, उसी प्रकार एकांकी नाटक मूल में नाट्य-क्रम से सम्बन्धित रहकर भी अपनी एक विशेष सत्ता रखते हैं। यदि सूक्ष्मतापूर्वक एकांकी नाटक का शास्त्रीय विवेचन किया जावे, तो अनेकांकी नाटकों से नाम-मात्र को ही सम्बन्ध दिखाई देगा। कई विद्वान तो एकांकी नाटकों का अनेकांकी नाटकों से कोई सम्बन्ध ही स्वीकार नहीं करते। एकांकी नाटकों को साहित्य का एकदम स्वतन्त्र अंग मानते हैं। पं० सद्गुरुशरण अवस्थी का कहना है—"एकांकी नाटक अनेकांकी नाटक का न तो संक्षिप्त संस्करण है और न उसका एक अंक। वह बलि को छलनेवाला बावन अँगुल का मनुष्य नहीं और न चक्रसुदर्शन सहित विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघु-संस्करण है और न किसी का खण्ड-अवतार। वह अपनी निजी सत्ता रखनेवाला साहित्य का एक अंग है। उसके अपनी निजी आत्मा है और उस आत्मा के व्यक्तीकरण का उसका निजी ढंग है।"

एकांकी नाटक का एक सुनिश्चित और सुकल्पित लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या प्रबल होती है। कार्य-कारण से उद्भूत घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें नाममात्र को भी स्थान नहीं है। एक समस्या एकांकी नाटक स्वयं केन्द्रीभूत आकर्षण है। उसमें सर्वत्र उत्कर्षता निर्भर रहती है। वर्णन-बाहुल्य, लम्बे-लम्बे कथोपकथन और विश्लेषण-[illegible] उसके लिए घातक है। कुशल-एकांकी नाटककार जीवन की समग्रता में से एक भाग को चुनकर अपने रेखा-चित्र द्वारा उसे ऐसा प्रस्तुत [illegible] है कि [illegible] के समस्त आकर्षण को एक साथ संकेत कर देने की शक्ति उसमें आ जाती है। यह [illegible] में भी

एक झलक दिखाकर पूरे जीवन का आभास करा देता है। एकांकी नाटकों की इसी विशेषता को स्वयं डा० रामकुमार वर्मा ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"एकांकी नाटकों में एक ही घटना होती है, और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं, जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से सम्पूर्णतया संबद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुंजाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को रूप-रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प को भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता की भाँति फैलने की उच्छृङ्खलता नहीं। घटना के प्रत्येक भाग का सम्बन्ध मनुष्य-शरीर के हाथ-पैरों के समान है, जिसमें अनुपात विशेष से रचना होकर सौन्दर्य की सृष्टि होती है। कथा-वस्तु भो स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहतो है, और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्व की प्रधानता रहती है। उसमें विस्तार के लिए अवकाश ही नहीं।"

एकांकी नाटकों के लिए विषय का कोई बन्धन नहीं है। केवल विषय को प्रस्तुत करने के ढंग का बन्धन है। कुशल एकांकी नाटककार साधारण से साधारण विषय को लेकर उसमें अपने रचना-कौशल से जीवन ला सकता है। सभी विषय समान रूप से एकांकी नाटक की सीमा में आ सकते हैं।

हिन्दी में एकांकी नाटकों की उत्पत्ति

हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटकों को सृष्टि अभी थोड़े दिन पहले से ही होने लगो है। कई विद्वानों का ऐसा कहना है कि अंग्रेजी साहित्य के संसर्ग से एकांकी नाटक हिन्दी में आये, जो बहुत अंशों में सत्य भी है।

विलायत में एकांकी नाटकों की उत्पत्ति श्री जैनेन्द्रकुमार के शब्दों में इस प्रकार हुई—"विलायती जीवन औद्योगिक स्पर्द्धा के कारण बहुत जटिल हो चला। अवकाश का बड़ा अभाव हुआ, वक्त की कीमत बढ़ गई। जीवन में तीखे रस की चाह हुई और मालूम हुआ कि तीन-चार घंटे में जो नाटक देखा है, उतनी ही कुछ तबियत से तेज़ी हमको एक घंटे में क्यों न मिल जानी चाहिए। बुद्धि चपल और व्यस्त थी। पुराने मान टूट रहे थे। ऐसी हालत में एकांकी नाटक उदय में आया। पुरानी चाल का पूरा नाटक कौन बैठा देखता रहे? यह विलायती जीवन की आवश्यकता थी। गाड़ी से मोटर और मोटर से वे हवाई जहाज़ में आ गए थे। चारों तरफ से तेज़ी उन पर सवार थी। तब स्वभावतः तीन अंक का नाटक और थकाऊ लगने लगा। उसके लिए धीरज ज़रूरी होता था। पर धीरज को वहाँ समय कहाँ था। जी हुआ कि एक अंक हो, जल्दी-जल्दी दृश्य बदले, तबियत झट-झट झकोरे खाय। क्लाइमेक्स तक पहुँचने के लिए बहुत काल तक अटकना न पड़े। ऐसा लगे कि हर मोड़ पर क्लाइमेक्स है। विलायती जीवन की इस माँग और लाचारी में से एकांकी को उदय मिला।" परन्तु हिन्दी साहित्य के लिए यह बात चरितार्थ नहीं होती। हिन्दी साहित्य में तो एकांकी नाटकों की उत्पत्ति उनकी अनिवार्यता के कारण ही हुई है। जिस प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप उपन्यास के साथ लघु आख्यायिका का आविर्भाव हुआ; उसी प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप अनेकांकी नाटकों के साथ एकांकी नाटकों का जन्म हुआ है। आज न केवल हिन्दी साहित्य बल्कि विश्व-साहित्य ही व्यर्थ के विस्तार से दूर हो, मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक उत्कर्ष की ओर तेज़ी से अग्रसर हो रहा है। जिस प्रकार आख्यायिका बहुत ही परिमित शब्दों में सधे हुए ढंग से संक्षिप्त लिखी जाने लगी है, उसी प्रकार साहित्य के सभी अंग अभिव्यक्ति की उसी शैली की ओर उन्मुख हैं। युग की विशेषता से साहित्य कब अछूता रह सकता? हिन्दी में एकांकी नाटकों की उत्पत्ति का

कारण युग की यही विशेषता है और कुछ नहीं। कई लोगों का ऐसा कथन है कि भारतवर्ष में एकांकी नाटक लिखे ही नहीं जाते थे। यह सत्य नहीं मालूम पड़ता। आज एकांकी नाटकों का जो स्वरूप है, वह भले ही पहले न रहा हो। परन्तु ऐसी बात नहीं है कि भारत में एकांकी नाटकों का अस्तित्व ही न रहा हो। 'साहित्य दर्पण' में नाटक के अनेक भेदों पर प्रकाश डाला गया है। 'भाण' में एक अंक और एक ही पात्र होता था। 'व्यायोग' में तो एक अंक में एक ही दिन का वृत्तांत रहता था और उसके सब पात्र पुरुष होते थे। 'वीथी' में एक ही दो पात्र होते थे। 'गोष्ठी' में एक अंक के अन्दर नौ या दस पुरुषों तथा पाँच-छः स्त्रियों का ही व्यापार रहता था। उपर्युक्त विभागों से ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ कई प्रकार के एकांकी नाटक लिखे जाते थे।

हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटकों की प्रगति

हिन्दी साहित्य में नाटकों के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र माने जाते हैं। भारतेन्दु बाबू की 'चन्द्रावली' नाटिका एकांकी नाटक की श्रेणी में आ सकती है। जयशंकर प्रसाद का 'एक घूँट' तो एक सफल एकांकी है ही। स्वर्गीय बद्रीनाथ भट्ट ने कई प्रहसन लिखे हैं, जिनमें एकांकी नाटकों की अभिव्यंजना विद्यमान है। पंडित बेचन शर्मा उग्र का एकांकी प्रहसन सन् १६२३ में 'आज' में प्रकाशित हुआ था 'इन्द्रधनुष' और 'चार बेचारे' नाम से आपके एकांकी नाटकों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। डा० रामकुमार वर्मा के 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई', चारुमित्रा, सप्तकिरण, श्री भुवनेश्वर का 'कारवाँ' पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी की 'सुहाग बिन्दी', सेठ गोविन्ददास की 'सप्त रश्मि', श्री उदयशंकर भट्ट के 'अभिनव एकांकी नाटक', श्री जनार्दनराय की 'आधी रात', 'निर्मल' जी की 'हजामत' तथा अश्क जी के 'चरवाहे' आदि कई संग्रह ग्रन्थ मुख्य हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त सर्वश्री गोविन्दवल्लभ पन्त, जैनेन्द्र-

कुमार, उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सत्येन्द्र, विष्णु प्रभाकर आदि ने भी समय-समय पर हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में सुन्दर एकांकी नाटक लिखे। यह देखते हुए निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में एकांकी नाटकों का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

श्री रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों की रूपरेखा

कविता के अतिरिक्त श्री रामकुमार वर्मा एकांकी नाटकों की रचना में भी कृत-कार्य हुए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र में उन पर शा, इब्सन, मेटरलिंक आदि का विशेष प्रभाव पड़ा है, किन्तु अपने मनोवेगों की अभिव्यक्ति में वे सर्वथा मौलिक और भारतीय रहे हैं। 'बादल की मृत्यु' शीर्षक एकांकी नाटक में उनकी एकांकी नाटक विषयक प्रेरणा स्पष्ट रूप से लक्षित हुई है। यही उनका प्रथम एकांकी नाटक था जो सर्वप्रथम मासिक 'विश्वमित्र' में प्रकाशित हुआ था—इसमें कल्पना-जनित परिस्थिति प्रकृति के क्षेत्र में, कविता की व्यंजनापूर्ण शैली में गद्य का परिधान लेकर अवतरित हुई है। इसके बाद वर्माजी ने क्रमशः 'दस मिनट', 'नहीं का रहस्य', 'पृथ्वीराज की आँखें' 'चम्पक' और 'एक्ट्रेस' आदि नाटकों की रचना की। इन सभी नाटकों में मनोवैज्ञानिक संघर्षों का जितना सूक्ष्म चित्रण किया गया है, उतना, समष्टि-रूप से हिन्दी में एक नये दृष्टि-कोण का प्रादुर्भाव कर सका है। निराशा-जनक परिस्थितियों के चित्रण में वर्माजी सिद्धहस्त हैं और उनके अधिकांश नाटक दुखान्त होकर जीवन की एक चिरन्तन और सर्वकालीन करुणा के अश्रुकणों से अभिषिक्त हैं। इसके बाद 'अठारह जुलाई की शाम', 'रेशमी टाई', 'पुरुष या स्त्री'—नाटकों का रचना में वर्माजी ऐसे आदर्शवादी कलाकार के रूप में आये हैं, जिससे, उनके सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उद्देश्य की चरम-भावना स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के

भीतर से आत्म-संयम एवं क्षुद्रता के भीतर से महानता का अन्वेषण करने में समर्थ हुए हैं—और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है। सम्वाद एवं कौतूहल से चरम सीमा तक की प्रगति और परिस्थिति एवं शाब्दिक व्यंजना की सृष्टि से पात्रों की नैसर्गिक तथा स्वभावजन्य अनुभूति ज्ञात होती है। अपने आदर्शवाद में वर्माजी, अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रतिनिधि ज्ञात होते हैं। यदि उनकी रचनाओं का अनुवाद विदेशी भाषा में हो तो पाठक उन्हें पढ़कर अनायास ही कह सकेगा कि रामकुमार पूर्व का लेखक है। ऐसा ज्ञात होता है कि जो दृष्टिकोण स्वर्गीय प्रेमचंद के उपन्यास के क्षेत्र में था, वही दृष्टिकोण वर्माजी का एकांकी नाटकों के क्षेत्र में है। अन्तर यह है कि प्रेमचंद ने भारतवर्ष के ग्रामीणों के हृदय में प्रवेश कर उनके सरल और स्वाभाविक मनोवेगों का चित्रांकन, भाषा की अत्यन्त प्रभावमयी लेखनी से किया है और वर्माजी ने शिक्षित और नागरिक जन-समुदाय की परिस्थतियों एवं संघर्षशील भावनाओं में पैठकर जीवन का चित्रण काव्य को सरस और शृंगारपूर्ण शैली में स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्दजी का चित्रण प्रकृत और जीवन के विभिन्न अंगों के ठोस निरीक्षण का परिणाम है और वर्मांजी का चित्रण जीवन से उद्भूत एक अपार्थिव दृष्टिकोण को लेकर कल्पना के सजीले रंगों के साथ उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द में जहाँ वास्तविकता की विपुल राशि, कथा भाग के अंग-अंग में बिखरी हुई है—वहाँ रामकुमार के चित्रण में जीवन का जागता हुआ रूप, कल्पना का सहारा लेकर संयत ढंग से एक निश्चित निष्कर्ष की ओर प्रेरित किया गया है। आदर्शवाद दोनों का लक्ष्य है और दोनों ने ही सफलतापूर्वक अपने उद्देश्य की प्राप्ति की है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रामकुमार के चरित्र-निर्माण में स्वाभाविक सौन्दर्य और कलात्मक आकर्षण होते हुए भी इतनी प्रौढ़ता नहीं है जितनी प्रेमचन्द में पाई जाती है।

जानती। प्रभातकुमारी अपनी दीनता में छोटी होकर केवल 'प्रभा' रह जाती है किन्तु नाटककार उसकी हीनता में गौरव की सृष्टि करता है और किन परिस्थितियों में वह मन्दार की जल-राशि में अपना उत्सर्ग करती है। जहाँ नैसर्गिक सुन्दरता का पतन होता है वहाँ प्रभा की सुन्दरता का भी पतन हुआ है। इन कौतूहलपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण करने में रामकुमार की प्रतिभा कितना शक्तिशाली रूप लेकर आई है, यह एक मर्मज्ञ आलोचक से पूछा जा सकता है। '१८ जुलाई की शाम' में उषा, अशोक की भौतिक प्रेरणाओं से संचालित होकर, 'मल्टीकलर्ड कोटन' के इन्द्रधनुप का स्वप्न देखकर भी किस प्रकार सात्विक पथ की ओर अग्रसर हुई है यह मनोवैज्ञानिक रूप से उपस्थित कर रामकुमार ने जैसे काले बादल के भीतर इन्द्रधनुप की सृष्टि की है, नर्क के क्रोड़ में जैसे स्वर्ग बसा दिया है। इस प्रकार वर्माजी के अन्य नाटकों के कथा-वस्तु का विश्लेपण कर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि ये नाटक जहाँ एक ओर सिद्धान्तवाद को पुष्टि करते हैं, दूसरी ओर उनके विकास में घटनाओं और परिस्थितियों की अत्यन्त आकर्पक और कौतूहलपूर्ण अवतारणा भी की गई है। परिमित स्थान में घटनाओं के उत्थान और पतन की स्वाभाविकता का दिग्दर्शन वास्तव में रामकुमार को एकांकी नाटकों का यशस्वी निर्माता सिद्ध करता है।

पात्र-कल्पना में रामकुमार जीवन के उस पहलू को छूना चाहते हैं जिसके द्वारा हृदय का अधिक से अधिक आन्दोलन हो और फलस्वरूप प्रतिक्रिया के रूप में हृदय स्थायी शान्ति प्राप्त कर सके। तूफ़ान के निकल जाने के बाद वायु-मण्डल जितना स्तब्ध और गम्भीर हो जाता है, पात्रों के संघर्प के बाद भी नाटक का वातावरण और पात्रों की प्रकृति अविचला शान्ति-लाभ करती है। घटनाओं के प्रभाव में पात्र अपना विकास स्वयं करते हैं अथवा अपने इतिहास को विकसित रूप में स्पष्ट करते हैं जिससे नाटक में एक गति आती है और कौतूहल संचय

वहाँ वार्तालाप में भाषा की सुरुचि है। वर्माजी के अधिकांश पात्र संभ्रान्त और सुशिक्षित नागरिक हैं और फलस्वरूप उनकी भाषा प्रौढ़ और स्वाभाविक है। इस प्रकार की भाषा में एक सम्बद्धता है जिससे वस्तुक्रम में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पड़ सकता। बीच-बीच में हास्य और व्यंग की शक्तियाँ हैं, जिनसे भावना के गम्भीर वातावरण में भी तबियत नहीं ऊब सकती। 'अठारह जुलाई की शाम' में अशोक की रोमेंटिक वाक्य-शैली में चुभते हुए शब्द-समूह परिस्थिति को सुबोध बनाते हुए मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत करते हैं। 'गद्देदार कुर्सियाँ, जिन पर बैठो तो मालूम हो जैसे किसी की गोद में बैठी हो'—में अशोक की वासनामयी प्रवृत्ति का जितना स्पष्ट उदाहरण है, उतना ही विनोद का भी। 'नहीं का रहस्य' में—प्रो० हरिनारायण जिस समय वर्ड्सवर्थ की कविता पढ़ते हैं समय, जूते में पालिश करने के लिए मोची का प्रवेश एक बड़ी मनोरंजक परिस्थिति उत्पन्न करता है, जिसमें हरिनारायण कहते हैं—'वर्डसवर्थ और मोची। अच्छा संयोग है।' 'रेशमी टाई' में नवीनचंद और उसके नौकर का वार्तालाप क्रोध से निकले हुए हास्य की अच्छी बानगी उपस्थित करता है। 'नारी की परीक्षा' में प्रो० केदार के जवान बनने की भावना ने अनेक हास्यपूर्ण उक्तियों को जन्म दिया है। कुमार का विनोद स्मित हास्य है, अट्टहास नहीं। वे भावना की एक अत्यन्त गहरी चुटकी लेकर एक सधे हुए हास्य की सृष्टि करते हैं। यह हास्य जीवन के अन्तस्तल से उत्पन्न होता है और पानी के बुलबुले की भाँति क्षणिक न होकर, स्थिर और चिर-प्रिय है। हास्य के अतिरिक्त रामकुमार के संवादों में चित्रावली भी है—सत्य का कवितामय रूप चित्रित करने में कुमार की लेखनी जैसे अपना जोड़ नहीं रखती। 'एक्ट्रेस' में जब प्रभा प्रकृति का वर्णन करती है तब परिस्थितियों को उसने कितना आकर्षक रूप दिया है: 'और यह निर्झर। बीस फ़ीट से नीचे गिर रहा है शायद यह बतलाने के लिए

कि सौन्दर्य का भी पतन होता है। जल जैसी कोमल वस्तु को भी संसार के संघर्ष का अनुभव करना पड़ता है।' अन्य स्थान पर प्रकृति का रूप इस प्रकार है—'एक-एक फूल अपने अंग में एक-एक काश्मीर को समेट कर बैठा है। न जाने कहाँ-कहाँ से फूल निकल कर कहते हैं—लो, हमें देखो।' आदि। 'नहीं के रहस्य' में हरिनारायण का कथन है—'पर मैं? मेरे लिए अब संसार में फूल नहीं हैं। हैं भी, तो सब काँटे हो गए हैं। अब मैं एकाकी हूँ। और एकाकी ही रहना चाहता हूँ। केवल स्मृतियों का शव मेरे पास है। उसी को चूमता हूँ, उसी को प्यार करता हूँ। अब जीवन एक अँधेरा प्रदेश है—जहाँ दिन एक महीने का होता है और रात एक वर्ष की।' रामकुमार की भाषा में एक सुरुचि है, साहित्यिक सौन्दर्य है और है एक कलात्मकता। शब्द इस प्रकार चुने हुए हैं मानो एक सुचतुर माली ने सुगन्धित पुष्पों को एकत्रित कर एक माला गूँथ दी हो। इस प्रकार रामकुमार की भाषा में ओज लालित्य और अर्थ-गौरव है।

जहाँ तक 'टेकनीक' का प्रश्न है, रामकुमार के नाटक रंगमंच पर सफलता के साथ अभिनीत हुए हैं। रंगमंच की समस्त अवश्यकताओं की पूर्ति इन नाटकों द्वारा सम्भवतः इसलिए पूर्ण हुई है कि वर्माजी स्वयं अभिनेता और रंगमंच की कठिनाइयों से परिचित हैं। किसी नाटक की सार्थकता, एच० हेमिल्टन के अनुसार—रंगमंच के सहयोग से ही मानी जाती है जिसमें काल की परिमिति, पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान एवं कार्य व्यवस्था के सामंजस्य से अपेक्षित है। नाटक की अन्तरात्मा का सहयोग नाटकीय उपादानों से होना ही रंगमंच की आवश्यकता है। जहाँ इन दोनों में विरोध हुआ, वहाँ नाटक रंगमंच के दृष्टिकोण से असफल हो जाता है। रामकुमार ने इन समस्त विधानों का अध्ययन कर अपने नाटकों में प्राण-प्रतिष्ठा की है। एक ही दृश्य में घटनाओं का उत्थान और पतन, कौतूहल-जनक आवेगों का चरम-सीमा में विस्फोट, पात्रों के

मनोविकारों का क्रमिक परिवर्तन और उसकी नियताप्ति एकांकी नाटक में होना अनिवार्य है। 'बादल की मृत्यु' को छोड़कर रामकुमार के अन्य सभी नाटकों में इन आवश्यक नियमो का पालन किया गया है और एकांकी नाटकों के क्षेत्र में यही लेखक की सफलता है।

'रेशमी टाई' के बाद डा० वर्मा ने भारतीय विचार-धारा को दृष्टि में रखते हुए एकाङ्की नाटक-साहित्य में अनेक प्रयोग किए हैं। उन्होंने ऐसे आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है, जो जीवन की व्यावहारिकता से ओत-प्रोत होकर नैतिक दृष्टि से जनता के लिए कल्याणकारी है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से वे अपने क्षेत्र में प्रसाद और प्रेमचंद के समकक्ष रखे जा सकते हैं; क्योंकि उन्होंने भारतीय इतिहास के चरित्रों का विश्लेषण कर उनमें ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा की है जो ऐतिहासिक सत्य से ओत-प्रोत होते हुए भी जीवन के स्पन्दन से सजीव है। 'चारुमित्रा' और 'विभूति' में संकलित उनके नाटक इस बात के प्रमाण हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों के साथ जीवन का उन्मेषकारी महत्व कहाँ तक प्रतिफलित हो सकता है। इस भारतीय आदर्श के साथ-ही-साथ जीवन की समस्त स्वाभाविकता उनके नाटकों का प्रधान अंग है। यही कारण है कि उनके नाटक अभिनय की दृष्टि से कभी असफल नहीं होते।

डाक्टर वर्मा का क्षेत्र विशेष रूप से ऐतिहासिक और सामाजिक है। इन दोनों विभागों में मनोविज्ञान उसी प्रकार ओत-प्रोत है जैसे किसी वस्त्र के अन्तर्गत कपास। समस्त जीवन को किसी एक घटना में बाँध कर कुतूहलता के साथ चरम-सीमा का निर्माण करना वर्मा जी की अभिनय-कला का मापदंड है। उनके पात्र षट्ऋतुओं की भाँति अपने क्रम और आगमन में नैसर्गिक और स्वाभाविक हैं। घटनाओं में न कोई अनावश्यक पात्र है और न उसका आगमन और प्रस्थान ही बिना यथेष्ट कारण के होता है। कथावस्तु जीवन की किसी घटना से बल संचय करती हुई उस चरम सीमा तक पहुँचती है, जहाँ जीवन का सत्य

अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्यग्र हो उठता है।

डा० वर्मा के कथानकों में एक विशेषता और है। भारतीय इतिहास जिन पात्रों के सम्बन्ध में मौन रहा है या अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्ट नहीं है, उन पात्रों के स्पष्टीकरण में डा० वर्मा ने अभूतपूर्व कार्य किया है। उदाहरण के लिए 'शिवा' जी और 'कौमुदी-महोत्सव' नाटक लिए जा सकते हैं। इतिहास में शिवाजी के चरित्र के सम्बन्ध में स्पष्ट बात नहीं लिखी है। जिन नाटकीय परिस्थितियों में लेखक ने शिवाजी के चरित्र को पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है, वे इस नाटक को देखने से ही स्पष्ट हो सकेंगी। इसी प्रकार 'कौमुदी-महोत्सव' में चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व जो चाणक्य के प्रभाव से उभर नहीं सका था, हमारे नाटककार ने बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि डा० वर्मा भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि पर चरित्रों के मनोविज्ञान को सँवारने में अत्यन्त कुशल एकांकी नाटककार हैं। संवादों की स्वाभाविकता लेकर ये घटनाओं की इतनी मनोरञ्जक सृष्टि करते हैं कि समस्त कथानक जीवन के एक अनुभव सा ज्ञात होता है। एक संक्षिप्त घटना—एक संक्षिप्त चित्र या रूप लेकर सामने आती है और सूक्ष्म किन्तु गहरी रेखाओं में मनोभावों का रंग भर देती है। व्यङ्ग और विनोद सन्ध्याकालीन बादल की भाँति विविध रंगों की प्रदर्शिनी रखता है और जब कुतूहल की धुँधली छाया में अन्तिम घटना या मनोभाव ज्योत्स्ना की भाँति बरस जाता है, तो समस्त कथावस्तु पर आलोक छा जाता है। पश्चिम की समस्त नाटकीय टेकनीक को भारतीय पद्धति में परिवर्तित करनेवाले ये अकेले सिद्धहस्त नाटककार हैं। एक ही समय में और एक ही दृश्य में समस्त घटना के आरोह-अवरोह की कला में ये अत्यन्त पटु हैं। डा० वर्मा हिन्दी-एकांकी के प्रथम लेखकों में हैं और इस भाँति हिन्दी एकांकी के निर्माण में उनका बड़ा हाथ है। उनकी अपनी टेकनीक है जो सर्वथा मौलिक और महान है।

१—राजरानी सीता

२—समुद्रगुप्त पराक्रमांक

३—सम्राट् विक्रमादित्य

४—औरंगज़ेब की आख़िरी रात

राजरानी सीता

पात्र परिचयः

स्त्री पात्र

राजरानी सीता—महाराज राम की पत्नी
मन्दोदरी—राजा रावण की पत्नी

विचित्रा—
सौदामिनी—
चित्रा—
सुलेखा—
त्रिजटा—
राजा रावण की दासियाँ

पुरुष पात्र

हनुमान—महाराजा राम के दूत
रावण—लंका का अधिपति

स्थान— अशोक वाटिका

[अशोक वृक्ष के नीचे महारानी सीता शोकमग्न मुद्रा में बैठी हुई हैं। उनके समीप एक दासी, विचित्रा, बैठी है। नेपथ्य में शंख और घंटों की ध्वनि हो रही है। आज रावण ने एक बहुत बड़ा महोत्सव भगवान शंकर के मंदिर में किया है। धीरे-धीरे यह ध्वनि क्षीण होती है और फिर सम्मिलित स्वर में सुनाई पड़ता है : महादेव शंकर की जय !...भगवान त्रिपुरारी की जय !...महाराजाधिराज रावण की जय ! ...यह ध्वनि धीरे-धीरे मंद होती हुई वायु में विलीन हो जाती है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे जय-ध्वनि करनेवाले मंदिर से बाहर जा रहे हैं। जय-ध्वनि के वायु में विलीन होते-होते महारानी सीता के कण्ठ से एक गहरी सिसकी निकल उठती है।]

विचित्रा : **महारानी, आज महादेव शंकर के मंदिर में महाराजाधिराज रावण ने दसवाँ उत्सव मनाया है। आपने राजाधिराज रावण की जय नहीं बोली ?** [महारानी सीता फिर सिसकी भरती हैं और सिसकी भरते हुए करुण शब्दों में कहती हैं] **महा...राजाधिराज...राम की...जय !**

विचित्रा : **महाराजाधिराज राम की जय ! अब भी आपने महाराजाधिराज राम की जय कहना नहीं छोड़ा ? आज दस मास बीत गये। आपको पाने के लिए महाराज ने भगवान शंकर के मंदिर में दस उत्सव किये, आपने दस बार क्या, एक बार भी महाराज रावण की जय नहीं कही ?**

सीता : कपट मृग के पीछे महाराज श्रीराम जिस प्रकार धनुष बाण लेकर दौड़े थे—भौंहें कसी हुई थीं, नेत्र कुछ कुछ लाल हो रहे थे,

दृष्टि स्थिर थी, नीचे का होंठ दाँतों से दबा हुआ था, मुख पर कुछ पसीने के बिन्दु झलक रहे थे—ऐसे श्रीराम की शोभा की—ऐसे श्रीराम की जय! एक बार नहीं—दस बार जय!

विचित्रा : आप जानती हैं इस हठ का क्या परिणाम होगा?

सीता : मैं उस परिणाम के लिए व्याकुल हूँ बहिन! यदि शरीर से श्रीराम के दर्शन न कर सकूँ तो प्राण से ही उनके समीप पहुँच सकूँ! महाराज श्रीराम से जाकर कौन कहे कि तुम अभी तक नहीं आए और सीता तुम्हारे विरह में...[सिसकियाँ]

[तीन दासियों का प्रवेश। इनका नाम क्रमशः सौदामिनी, चित्रा और सुलेखा है।]

सौदामिनी : महारानी, महाराज रावण इधर ही आ रहे हैं। विचित्रा! तू बाहर जाकर महाराज का स्वागत कर।

विचित्रा : बहुत अच्छा। [प्रस्थान]

चित्रा : [महारानी सीता से] महारानी, आप सिसकियाँ क्यों भर रही हैं? आज तो उत्सव का दिन है। महाराजा रावण ने आज भगवान शंकर की पूजा कर स्वयं वेद-पाठ किया है।

सुलेखा : और पूजा करने के पूर्व महाराज ने आज्ञा की थी कि आज महारानी सीता का शृंगार हो।

सीता : जिसके हृदय में राम हैं, उसके शृंगार की आवश्यकता नहीं है।

सौदामिनी : राम का स्मरण करते हुए आप थकती नहीं? आज आप इस नाम को भूल जाएँ। इस समय महाराज रावण का नाम सबसे ऊँचा है। ओह, आज महाराज की कितनी भव्य मूर्ति थी: मस्तक पर त्रिपुंड, भौंहों में कितनी कमनीयता, जैसे यज्ञ के धुएँ की काली रेखाएँ हों! नेत्र यज्ञ के धुएँ से कुछ कुछ लाल थे। हाथ में चन्द्रहास तलवार थी। क्यों चित्रा?

चित्रा : और जब उन्होंने चन्द्रहास से अपना मस्तक काट कर भगवान शंकर के सामने अर्पण किया तो उनके कटे हुए सिर के मुख पर कितनी मधुर मुस्कान थी !

सुलेखा : और चित्रा, कितने आश्चर्य से हम लोगों ने देखा कि कटे हुए मस्तक के नीचे से दूसरा सिर फिर से महाराज के गले पर सुसज्जित हो गया है, यह प्रताप भगवान शंकर का है। क्यों सौदामिनी ?

सौदामिनी : महाराज की भक्ति का नहीं है ? वे कितने बड़े भक्त हैं, यह तो सारा संसार जानता है। जब उन्होंने एक बार शंभु सहित सफेद कैलास पर्वत उठाया तो ऐसा मालूम हुआ जैसे आकाश रूपी नीले सरोवर में महाराज के हाथ रूपी कमल पर हँस शोभायमान हो रहा है। बिना ऊँची भक्ति के भला कोई भक्त भगवान शंभु को कैलास पर्वत सहित उठा सकता है ?

चित्रा : यह तो महाराज का बल है सौदामिनी, महाराज की शक्ति और शूरवीरता तो इतनी अधिक है कि जब उन्होंने अपने हाथ से अपना सिर काट कर अग्नि में होम किया तो ब्रह्मा के लिखे हुए मस्तक के लेख महाराज ने अपने नवीन मुख से पढ़े। उनमें लिखा हुआ था कि तुम्हारी मृत्यु नर के हाथों से होगी। महाराज अट्टहास कर हँस पड़े। कहने लगे—बूढ़े ब्रह्मा की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। जब शक्तिशाली देवता भी मेरे वश में हैं तो नर की शक्ति ही कितनी कि वह मेरे सामने खड़ा हो सके ?

सौदामिनी : महारानी सीता, ऐसे शक्तिशाली महाराज की बात स्वीकार करने में तुम्हें संकोच है ?

सीता : बड़े से बड़ा जुगनू भी चन्द्रमा की समानता नहीं कर सकता ! [तीव्र स्वर में] मैं महाराज राम के अतिरिक्त किसी का नाम नहीं सुनना चाहती।

सुलेखा : महारानी, सावधान ! ऐसा हठ मैंने जीवन में पहली बार देखा। देव-कन्या, यक्ष कन्या, गन्धर्व-कन्या, नर-कन्या, नाग-कन्या ऐसी कितनी ही सुन्दरियों ने महाराज के बाहु-बल पर मोहित हो कर आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु आपने......

सीता : [सोचते हुए धीरे-धीरे] इनमें कोई विदेह-कन्या नहीं रही ?

[नेपथ्य में महाराज रावण की जय का घोष]

सुलेखा : महारानी सीता, महाराज की आज्ञानुसार आप अपना शृंगार करें। महाराज आने ही वाले हैं।

सीता : क्या महारानी मन्दोदरी के शृंगार से तुम्हारे महाराज रावण को संतोष नहीं हुआ ? अपनी महारानी के शृंगार को छोड़ कर जो दृष्टि पर-नारी के शृंगार की ओर जाती है, वह दृष्टि तुम्हारे महाराज ने आग में होम नहीं की ? [करुण स्वर में] बेचारी मन्दोदरी !...

[नेपथ्य में फिर महाराजाधिराज रावण की जय। रावण के साथ महादेवी मन्दोदरी और दासी त्रिजटा आती हैं। रावण का प्रवेश करते ही अट्टहास]

सौदामिनी : राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो।

चित्रा : राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो।

सुलेखा : राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो।

रावण : राजाधिराज की सेवा में तुम्हारा अनुराग रहे। संवत्सरों तक तुम राजाधिराज और महादेवी की सेवा करती रहो। तुम्हारी महारानी सीता का शृंगार हुआ ? [देखकर] नहीं हुआ ! सौदामिनी, यह शृंगार क्यों नहीं हुआ ? चित्रा, तुमने महारानी को सुसज्जित क्यों नहीं किया ? सुलेखा, तुमने पुष्पों की मालाओं और मोतियों से महारानी के केश क्यों नहीं सजाए ?

सौदामिनी : [नम्रता से] महारानी की इच्छा नहीं थी।

रावण : [दुहराते हुए] महारानी की इच्छा नहीं थी। [सोच कर] हाँ, महारानी की इच्छा सर्वोपरि है। त्रैलोक्य-सुन्दरी महारानी सीता की इच्छा का आदर होना चाहिए। अच्छा, जाओ। तुम लोग महारानी सीता को प्रणाम कर यहाँ से जाओ।

तीनों : [सम्मिलित स्वर में] महारानी सीता को प्रणाम।

[सीता कुछ उत्तर नहीं देतीं, दासियों का प्रस्थान]

रावण : प्रणाम का कुछ उत्तर नहीं दिया महारानी सीता ने! [अट्टहास] ठीक है। कहाँ त्रैलोक्य की शोभा का शृंगार और कहाँ तुच्छ दासियाँ! प्रणाम का उत्तर भी कैसे हो सकता है? हाँ, अगर महादेवी मन्दोदरी प्रणाम करें तो संभवतः उत्तर मिले। [मन्दोदरी की ओर देख कर] महादेवी मन्दोदरी!

मन्दोदरी : महारानी सीता को मन्दोदरी का प्रणाम।

सीता : प्रभु राम अनाथों पर कृपा करें।

[रावण मुक्त अट्टहास करता है।]

रावण : यह निष्ठा देखी? महादेवी मन्दोदरी! एक तपस्वी के प्रति यह निष्ठा! संसार में किसी नारी के पास ऐसी निष्ठा नहीं। मैं इसी निष्ठा से प्रभावित हूँ महारानी सीता! किन्तु यह निष्ठा शृंगार के साथ नहीं है। आज तो शृंगार होना चाहिए था। आज के पुण्य पर्व में देवाधिदेव शंकर स्वयं आए थे। महादेवी मन्दोदरी, तुमने भगवान शंकर की छवि देखी थी?

मन्दोदरी : मैं तो आपकी और भगवान शंकर की छवि में कुछ देर तक अंतर भी नहीं देख सकी। यदि उनके हाथ में त्रिशूल और आपके हाथ में चन्द्रहास न होता तो दोनों का स्वरूप एक ही था।

[रावण अट्टहास करता है।]

रावण : ठीक है, भक्त और भगवान में एकरूपता तो होनी ही चाहिए।

किन्तु आज उनकी मुद्रा कुछ उदास थी। संभवतः इसलिए कि महारानी सीता ने श्रृंगार नहीं किया। [सीताजी से] महारानी, आपकी मलीनता का क्षोभ देवाधिदेव शंकर को भी होता है। आपको आज श्रृंगार करना चाहिए।

[सीता सिसकियाँ भरती है।]

रावण : ये आंसू...! ये आँसू ! ये तो आपके सौंदर्य के अनुरूप नहीं हैं, महारानी सीता ! और आपके सिर पर केशों की एक ही वेणी, यह मैली साड़ी, ये भूमि पर गड़े हुए नेत्र, यह उदासी ! जैसे चन्द्र के साथ अन्धकार हो। क्यों महादेवी ? चन्द्र के साथ अन्धकार कैसे निवास करता है ?

मन्दोदरी : चन्द्र के साथ नहीं, चन्द्र के भीतर अंधकार निवास करता है, महाराज !

रावण : यह अंधकार नहीं है, महादेवी ! यह तो मेरा आतंक है जो चन्द्रमा सदैव अपने हृदय पर लिये फिरता है। संसार के लोग उसे कलंक कहते हैं। किन्तु वह चन्द्र के हृदय में राजाधिराज रावण का भय है; आतंक है। पर इस समय जाने दो इन बातों को। मुझे तो इन नेत्रों से त्रैलोक्य के सौंदर्य को देखना है, महारानी सीता !. ... [सीता मौन रहती है] आह सौंदर्य में वाणी नहीं है, पुष्प में सुगन्धि नहीं है, चन्द्रमा में किरण नहीं है। मैंने सारे भूमंडल का पर्यटन किया, स्वर्ग के देवताओं को जीता, पातालपुरी के नागों को अधीन किया, किन्तु ऐसा दिव्य सौंदर्य कहीं नहीं देखा ! अभी तक मैं समझता था कि मेरी महादेवी ही सौंदर्य की स्वामिनी हैं, किन्तु आज...

मन्दोदरी : महाराज, आप मुझे व्यर्थ आदर दे रहे हैं।

रावण : तब महादेवी, तुम भी यह स्वीकार करती हो कि महारानी सीता तुमसे अधिक सुन्दरी हैं ?

मन्दोदरी : मैं इसे स्वीकार करती हूँ, महाराज !

रावण : तब तो महादेवी, तुम्हें महारानी सीता की सेवा करनी चाहिए। [सीताजी से] सुनिए महारानी सीता ! यदि आप एक बार भी मुझ पर कृपालु हो जावें तो मैं महादेवी मन्दोदरी से लेकर सभी रानियों को आपकी अनुचरी बना दूँगा। बोलिए, आप महादेवी मन्दोदरी की सेवा स्वीकार करेंगी ?

सीता : महादेवी मन्दोदरी, मैं आपसे केवल एक तृण चाहती हूँ।

रावण : तृण ! केवल तृण ? क्यों ? किसलिए ? महादेवी इन्हें एक सोने का तृण लाकर दो। महारानी उससे अपनी स्वीकृति लिखेंगी। साथ ही काले पत्थर की एक कसौटी भी। कसौटी पर वह स्वर्ण-रेखा जैसे अंधकार पर सूर्य की किरण के समान होगी। वही महारानी की कृपा की स्वीकृति होगी !

सीता : नहीं महादेवी, मैं केवल भूमि का तृण चाहती हूँ।

रावण : यह किस लिए ?

मन्दोदरी : मैं जानती हूँ महाराज, किस लिए। क्या महारानी सीता की इच्छा पूरी की जाय ?

रावण : उनकी इच्छा सर्वोपरि है। तृण को वे मेरे सामने रख कर ही बातें करें। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।

मन्दोदरी : [तृण तोड़ कर देती है] यह लीजिए।

सीता : [तृण लेते हुए] धन्यवाद, महादेवी !

रावण : महारानी, मैं अपने प्रस्ताव की स्वीकृति चाहता हूँ। मैं कबसे महादेवी मन्दोदरी को आपकी सेवा में नियोजित कर दूँ ?

सीता : एक स्त्री का अपमान करने के बाद दूसरी स्त्री के अपमान करने का प्रस्ताव ! इस मूर्खता के संबंध में मैं क्या कहूँ ! क्या वेदों का पाठ करने वाले पंडित के ज्ञान की यह विडंबना नहीं है ?

रावण : महारानी सीता ! [तीव्र स्वर से] महाराज रावण का अपमान करने की शक्ति किसी में नहीं है।

सीता : किस रावण का अपमान ? उस रावण का जो प्रभु के दूर चले जाने पर सूने आश्रम से मुझे हरण कर लाया है ? उस रावण का जो संन्यासी का वेश रख कर आया और चोर बन कर गया ? उस रावण का जो भिक्षा माँग कर संसार के समस्त भिक्षुकों को लज्जित कर गया ? आज वही रावण अपने अपमान की बात कर रहा है ! उस रावण ने भिक्षुकों तक का अपमान किया है।

मन्दोदरी : महारानी सीता, शान्त हो !

रावण : महादेवी मन्दोदरी, तुम रावण को शान्त नहीं करतीं ? आज पिछले दस महीनों से वह तिल-तिल कर जल रहा है। उसने देवाधिदेव शंकर के दस महोत्सव किए हैं, दस बार प्रार्थनाएँ की हैं कि महारानी सीता मुझ पर अनुकूल हों, किन्तु न शंकर ने ही स्वीकृति दी और न महारानी सीता ने ही। मैंने दस महीनों से कुबेर की भेंट स्वीकार नहीं की, ब्रह्मा के कंठ से वेद-पाठ नहीं सुना, सूर्य को सभा में नहीं आने दिया, चन्द्रमा की अमृत-वाणी नहीं सुनी, सारे वैभव छोड़ दिए ! एकमात्र इसलिए कि महारानी सीता एक बार कृपापूर्वक मेरी ओर मुख करें; किन्तु आज तक मैं इस सुख से वंचित रहा। मैं कितना अशान्त हूँ, यह अग्नि की लपटों से पूछो, लंका की सीमा पर गर्जना करते हुए सागर से पूछो ! इसे तुम नहीं जान सकतीं, महादेवी !

मन्दोदरी : जानती हूँ महाराज, किन्तु यदि आपकी इच्छा पर सारे वैभव आपने छोड़ दिए हैं, ब्रह्मा, कुबेर, सूर्य और चन्द्र आपके दर्शन का सम्मान न पावें, तो इसमें उनका क्या दोष ? दोष तो आपकी इच्छा का है।

रावण : तुम भी सीता से सहानुभूति रखती हो महादेवी ? मैं प्रमाद

की ओर से आँख बंद कर सीता को ही निर्भीक और निडर बनाती हो ?

सीता : महाराज राम के बल से कौन निर्भीक और निडर नहीं है ? उनके प्रताप के सामने तुम्हारा प्रताप क्या है ? क्या जुगनुओं का प्रकाश कभी सूर्य के प्रकाश की समानता कर सकता है और उस प्रकाश से क्या कभी कमलिनी खिल सकती है ? ऐसे व्यक्ति का प्रताप——

रावण : [अट्टहास करते हुए] मेरा प्रताप ! महारानी सीता ! जिसके पुत्र ने सुरेश्वर इन्द्र को जीत कर इन्द्रजीत का नाम और यश पाया है उसके प्रताप के सम्बन्ध में आपको शंका है ? महादेवी, समझाओ सीता को कि मैं क्या हूँ ! त्रैलोक्य में मेरी शक्ति से लड़ने का साहस किसमें हो सकता है ! जिसके हृदय में दंडी, मुंडी और जटाधारी ही निवास करते हैं उस निर्गुणी .....

सीता : [बीच ही में] चुप रह दुष्ट ! क्या तुझे लज्जा नहीं आती कि मुझे एकान्त में पाकर हरण करता है और अपनी शक्ति का आडंबर मुझे दिखलाना चाहता है ? अन्यायी भी कहीं शक्तिशाली हो सकता है, पापी भी कहीं भक्त हो सकता है, कायर भी कहीं शूरवीर हो सकता है ? जिसने अपनी सारी लज्जा खो दी है वह अपने सम्मान की बात किस मुख से कह सकता है ? जिसके सामने संन्यासी, चोर, भिक्षुक और कायर में अंतर नहीं है, वह रावण... वह रावण प्रभु राम से......

रावण : [बीच ही में चिल्लाकर] सीता......

सीता : [मन्दोदरी से] महादेवी ! आज मुझे जीवन के अंतिम क्षण दीख रहे हैं। आप यहाँ से चली जावें तो अच्छा है।

मन्दोदरी : [रावण से] महाराज ! नारी पर बल-प्रयोग करना अन्याय है।

रावण : महादेवी, मैं तुमसे नीति की शिक्षा नहीं ले रहा हूँ। रावण भगवान शंकर को छोड़कर किसी को अपना गुरु नहीं मानता। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम यहाँ से जा सकती हो।

मन्दोदरी : मैं महाराज को अन्याय करने से रोकूँगी।

रावण : [तीव्रता से] मुझे न्याय या अन्याय करने से कौन रोक सकता है ?

सीता : भगवान राम के बाण ! जब वे तेरे सिरों को काट कर भगवान के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है, तब ये बाण......

रावण : [बीच ही में क्रोध से] बाण नहीं, यह कृपाण ! देखो, यह चन्द्रहास [तलवार निकालता है] मेरे अपमान करने वाले के शरीर में यही चन्द्रहास एक क्षण में चमक कर मेरे सम्मान का आदर्श त्रैलोक्य में स्थापित करता है ! यह चन्द्रहास ! देखती हो ? इसने कितने अपराधियों के सिर काट कर सारे ब्रह्मांड में बिखरा दिए हैं। सिरों की तरह असंख्य तारों को बिखरा कर दूज का चन्द्र चन्द्रहास का अभिनय करता है। देखो, इस तारों भरी रात को और इस चन्द्रहास को। मेरी भौंह के संकेत पर न चलनेवाले को चन्द्रहास की धार पर चलना पड़ता है।

सीता : [गहरी साँस लेकर] चन्द्रहास ! श्याम कमलों की माला के समान प्रभु की भुजा ! मेरे कंठ की यही शोभा है। या तो प्रभु की भुजा हो या यह चन्द्रहास हो। चन्द्रहास ! चन्द्र का शीतल हास ! प्रभु के विरह में उठी हुई ज्वाला को तू क्यों नहीं शान्त कर देता ? तेरी धार कितनी शीतल है, कितनी तीक्ष्ण है ! मेरे इस दुःख को दूर कर दे। तू अभी तक मृत्यु का दूत है, मेरे लिए जीवन का देवदूत बन जा !

रावण : [चिल्ला कर] तब तैयार हो ! चन्द्रहास ! तुझे भी ऐसा शरीर न मिला होगा। तैयार हो। वायु को काटता हुआ आकाश में चन्द्रमा की तरह उठ जा और उल्कापात की तरह इस शरीर पर गिर......

मन्दोदरी : [बीच में उठ कर और विह्वल होकर] महाराज, महाराज, यह नहीं हो सकता ! पुरुष नारी का इस प्रकार वध करे ! यह नहीं हो सकता ! यह अन्याय है ! यह नहीं हो सकता ! पहले मेरा वध कीजिए ...मेरा वध...मेरा वध...

सीता : [दुःख से] महादेवी, यह क्या ?...

मन्दोदरी : [शीघ्रता से] नहीं, नहीं, महारानी सीता ! [रावण से] महाराज, पहले मेरा वध कीजिए। यह अन्याय मैं अपने सामने नहीं होने दूँगी। मैं आपको पाप में नहीं पड़ने दूँगी।

रावण : [जोर से साँस लेता हुआ] अरे, यह क्या ? भगवान शंकर की भी स्वीकृति नहीं ! मेरा त्रिपुंड गीला हो गया ! उस त्रिपुंड पर भगवान शंकर के आँसू गिर पड़े ! प्रभु, प्रभु...मेरे शत्रु पर तुम्हारी इतनी करुणा क्यों ? तुम्हारी इतनी अनुकंपा क्यों ? तुम कैसे मेरे भगवान हो ! भक्त की इच्छा के प्रतिकूल ! तुम्हारी तो कभी ऐसी बान नहीं थी ?...प्रभु शंकर ! मुझे बल दो कि मैं शत्रु से लड़ सकूँ ! चन्द्रहास से न सही तो अपनी नीति से ही लड़ सकूँ ! जिस प्रकार तुम मेरे सभी कार्यों में सहायक हो उस प्रकार इस कार्य में क्यों नहीं होते ? लेकिन मैं लड़ूँगा।

[प्रकट] महादेवी मन्दोदरी, तुम्हारे कहने से मैं इस मास भी सीता को छोड़ता हूँ। एक मास क्षमा की अवधि और रहेगी। मैं ग्यारहवाँ महोत्सव मनाऊँगा। ग्यारहों रुद्र उसके साक्षी होंगे और यदि उस उत्सव पर सीता ने मेरा कहना नहीं माना तो फिर यही चन्द्रहास !

...यही चन्द्रहास होगा और उसके सामने होगी सीता...सीता... यही सीता जो मेरे आराध्यदेव द्वारा भी बचाई जा रही है। कहाँ हो शंकर ? आज तुम्हारा भक्त अपमानित हो गया। [शीघ्रता से बाहर जाता है। बाहर जाते-जाते शब्द धीमें होते जाते हैं।] इस अपमान का बदला ......महाराजाधिराज रावण के अपमान...का... बदला.......

मन्दोदरी : मैं भी जा रही हूँ महारानी सीता ! पतिदेव रुष्ट हो गए। यह त्रिजटा दासी तुम्हारे समीप रहेगी।

[मन्दोदरी जाती है और सीता फिर एक बार सिसकी भरती हैं।]

सीता : [चिंतित स्वरों में] एक मास और . ग्यारहवाँ उत्सव... ग्यारह रुद्रों की साक्षी...क्यों नहीं आज ही उस दुष्ट ने मुझे इस विरह दुःख से मुक्त कर दिया ? एक मास और...कैसे सहूँ ! प्रभु के विरह में एक एक दिन युग के समान बीत रहा है, उस पर अभी एक मास की लंबी अवधि और है। [सिसकी लेकर] प्रभु, अब मैं जीवित नहीं रहूँगी। मैं जीवित नहीं रहना चाहती। तुम्हारी होकर तुमसे इतनी दूर हूँ, एक एक क्षण मुझे चन्द्रहास की धार से भी अधिक तीक्ष्ण ज्ञात होता है। हाय मेरा जीवन नष्ट क्यों नहीं हो जाता ? मेरे ही कारण मेरे प्रभु को व्यंग सुनने पड़ते हैं। मेरे ही कारण संसार देख रहा है कि मैं प्रभु की हूँ और प्रभु अभी तक नहीं आए। मैं कितनी अभागिनी...[सिसकियाँ]

त्रिजटा : महारानी, आप दुःख न करें। आपकी सेवा के लिए मैं तैयार हूँ। मैं त्रिजटा हूँ। आपकी आज्ञाकारिणी सेविका—

सीता : [विह्वल होकर] त्रिजटा, तुम मेरी सेवा करोगी तो यही सेवा करो कि लकड़ियाँ लाकर मेरे लिए चिता बना दो और उसमें आग लगा दो। अब प्रभु राम का यह विरह मुझे सहन नहीं होता। राम

के विरह की ज्वाला से चिता की ज्वाला शीतल होगी। मैं कहाँ तक दुष्ट रावण के दुर्वचन सुनूँ! मैं प्रभु राम के शत्रु को अपनी आँखों के सामने कैसे देखूँ! मेरे प्रेम को सार्थक करो और मुझे चिता में जल जाने दो। मैं अपने हृदय की वेदना कैसे कहूँ?

त्रिजटा : महारानी, आप इतनी दुखी क्यों होती हैं? प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे।

सीता : [चौंक कर] क्या कहा? फिर से कहो, देवी, फिर से कहो—प्रभु राम...प्रभु राम..

त्रिजटा : हाँ, हाँ, प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे। आपने ही तो कहा था कि प्रभु राम के बाण......

सीता : [विह्वल होकर] हाँ, कहती जाओ, देवी, कहती जाओ...मैं प्रभु की बात सुनना चाहती हूँ।

त्रिजटा : यही तो आपने कहा था कि भगवान राम के बाण जब रावण के सिरों को काट कर भगवान के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है?

सीता : किन्तु यह कब होगा, देवी त्रिजटा?

त्रिजटा : भगवान राम की कृपा होने में विलंब नहीं लगती।

सीता : सच है देवी, किन्तु यदि एक मास से अधिक विलंब हुआ तो दुष्ट रावण मुझे मार डालेगा और मैं प्रभु के दर्शन भी न कर पाऊँगी, इससे अच्छा तो यही है कि तुम मुझे अभी ही चिता में जल जाने दो।

त्रिजटा : यह संभव नहीं है महारानी, फिर रात आधी से अधिक व्यतीत हो गई है। अब किसके घर आग मिलेगी? सभी लोग भोजन कर सो रहे होंगे।

सीता : [आह भर कर] आह, यह भी संभव नहीं। फिर सहूँ प्रति-

...यही चन्द्रहास होगा और उसके सामने होगी सीता...सीता... यही सीता जो मेरे आराध्यदेव द्वारा भी बचाई जा रही है। कहाँ हो शंकर ? आज तुम्हारा भक्त अपमानित हो गया। [शीघ्रता से बाहर जाता है। बाहर जाते-जाते शब्द धीमें होते जाते हैं।] इस अपमान का बदला .....महाराजाधिराज रावण के अपमान...का... बदला.......

मन्दोदरी : मैं भी जा रही हूँ महारानी सीता ! पतिदेव रुष्ट हो गए। यह त्रिजटा दासी तुम्हारे समीप रहेगी।

[मन्दोदरी जाती है और सीता फिर एक बार सिसकी भरती हैं।]

सीता : [चिंतित स्वरों में] एक मास और . ग्यारहवाँ उत्सव... ग्यारह रुद्रों की साची...क्यों नहीं आज ही उस दुष्ट ने मुझे इस विरह दुःख से मुक्त कर दिया ? एक मास और...कैसे सहूँ ! प्रभु के विरह में एक एक दिन युग के समान बीत रहा है, उस पर अभी एक मास की लंबी अवधि और है। [सिसकी लेकर] प्रभु, अब मैं जीवित नहीं रहूँगी। मैं जीवित नहीं रहना चाहती। तुम्हारी होकर तुमसे इतनी दूर हूँ, एक एक क्षण मुझे चन्द्रहास की धार से भी अधिक तीक्ष्ण ज्ञात होता है। हाय मेरा जीवन नष्ट क्यों नहीं हो जाता ? मेरे ही कारण मेरे प्रभु को व्यंग सुनने पड़ते हैं। मेरे ही कारण संसार देख रहा है कि मैं प्रभु की हूँ और प्रभु अभी तक नहीं आए। मैं कितनी अभागिनी...[सिसकियाँ]

त्रिजटा : महारानी, आप दुःख न करें। आपकी सेवा के लिए मैं तैयार हूँ। मैं त्रिजटा हूँ। आपकी आज्ञाकारिणी सेविका—

सीता : [विह्वल होकर] त्रिजटा, तुम मेरी सेवा करोगी तो यही सेवा करो कि लकड़ियाँ लाकर मेरे लिए चिता बना दो और उसमें आग लगा दो। अब प्रभु राम का यह विरह मुझे सहन नहीं होता। राम

के विरह की ज्वाला से चिता की ज्वाला शीतल होगी। मैं कहाँ तक दुष्ट रावण के दुर्वचन सुनूँ! मैं प्रभु राम के शत्रु को अपनी आँखों के सामने कैसे देखूँ! मेरे प्रेम को सार्थक करो और मुझे चिता में जल जाने दो। मैं अपने हृदय की वेदना कैसे कहूँ?

त्रिजटा : महारानी, आप इतनी दुखी क्यों होती हैं? प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे।

सीता : [चौंक कर] क्या कहा? फिर से कहो, देवी, फिर से कहो— प्रभु राम...प्रभु राम ..

त्रिजटा : हाँ, हाँ, प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे। आपने ही तो कहा था कि प्रभु राम के बाण......

सीता : [विह्वल होकर] हाँ, कहती जाओ, देवी, कहती जाओ...मैं प्रभु की बात सुनना चाहती हूँ।

त्रिजटा : यही तो आपने कहा था कि भगवान राम के बाण जब रावण के सिरों को काट कर भगवान के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है?

सीता : किन्तु यह कब होगा, देवी त्रिजटा?

त्रिजटा : भगवान राम की कृपा होने में विलंब नहीं लगती।

सीता : सच है देवी, किन्तु यदि एक मास से अधिक विलंब हुआ तो दुष्ट रावण मुझे मार डालेगा और मैं प्रभु के दर्शन भी न कर पाऊँगी, इससे अच्छा तो यही है कि तुम मुझे अभी ही चिता में जल जाने दो।

त्रिजटा : यह संभव नहीं है महारानी, फिर रात आधी से अधिक व्यतीत हो गई है। अब किसके घर आग मिलेगी? सभी लोग भोजन कर सो रहे होंगे।

सीता : [आह भर कर] आह, यह भी संभव नहीं। फिर सहूँ प्रति-

दिन की तीक्ष्ण बातें, रात दिन, दिन रात।

त्रिजटा : देवी सीता, आप धैर्य रक्खें ! मैंने एक स्वप्न देखा है कि आपका उद्धार होगा !

सीता : देवी, आपके वचनों से मुझे धैर्य मिलता है, क्योंकि आप भी प्रभु राम के चरणों में प्रेम रखती हैं।

त्रिजटा : मैं किस योग्य हूँ महारानी, कि प्रभु राम के चरणों में प्रेम कर सकूँ ! यदि मेरे सिर की—जटाओं में आजन्म राम नाम की—नाम के अक्षरों की—र अ और म की रेखाएँ बनी रहें, तो इससे बड़ा सौभाग्य मेरा क्या होगा ?

सीता : मेरी विपत्ति की सहायिका देवी, तुम धन्य हो !

त्रिजटा : धन्य तो मैं तब होऊँगी जब महारानी, आपका उद्धार हो जायगा और मुझे विश्वास है कि दुर्भाग्य के बादल प्रभु की कृपा की किरणों को नहीं रोक सकते।

सीता : तुम्हारा विश्वास अमर रहे !

त्रिजटा : अच्छा महारानी, अब आप विश्राम कीजिए। रात थोड़ी ही रह गई है। अब मैं जाऊँगी। आप सो जाइए।

सीता : मैं क्या सोऊँगी ! मेरी शैया पर तो दुर्भाग्य ने काँटे बिछा दिए हैं, किन्तु तुम जाओ, तुम सोओ।

त्रिजटा : प्रणाम करती हूँ, महारानी !

सीता : प्रभु राम अनाथों पर कृपा करें।

[त्रिजटा का प्रस्थान]

सीता : [गहरी साँस लेकर] यह सहायिका भी चली गई ! विधाता मेरे कितना प्रतिकूल है। माँगने से आग भी नहीं मिलती, जिससे मैं चिता में जल जाऊँ ! मेरे हृदय की आग ही बाहर निकल आए तो मैं अपने को धन्य समझूँ। मैं अपना शरीर जलाना चाहती हूँ,

किन्तु मन ही जल कर रह जाता है। [कुछ देर ठहर कर] रात आधी से अधिक बीत चुकी है! सब लोग सो रहे हैं। साँसों के आने-जाने का शब्द सुनाई पड़ रहा है। ..मैं क्या करूँ! भगवान राम न जाने कहाँ होंगे। किस वृक्ष के नीचे बैठ कर मेरे विरह में दुखी होते होंगे! कंचनमृग का चर्म लाने का आग्रह करने से पहले मैंने उन्हें माला गूँथ कर पहिनायी थी। वह इस समय भी उनके गले में पड़ी होगी, उसके फूल मेरी ही तरह मुरझा गए होंगे, किंतु फूल मुझसे अधिक भाग्यशाली हैं, क्योंकि मुरझाने पर भी वे प्रभु राम के हृदय से लगे हुए हैं और मैं यहाँ मुरझाई हुई दुष्ट रावण की अशोकवाटिका में हूँ। [सिसकी भरती है] प्रभु राम मुझे क्षमा करो! मैंने कंचनमृग का चर्म ही क्यों माँगा? तुमने मृग की ओर देख कर अपना परिकर बाँधा, हाथ में धनुष सँभाल कर तीक्ष्ण बाण की नोक को गहरी दृष्टि से परखा। बाण की ओर देखते हुए तुमने लक्ष्मण को रक्षा का भार सौंपा और तीव्र गति से कंचनमृग के पीछे दौड़ पड़े......संसार जिनके पीछे दौड़ता है, वे मेरे प्रभु कंचनमृग के पीछे दौड़े...मेरे कारण...ओह प्रभु तुम कैसे हो और मैं कैसी हूँ! आज मेरा कष्ट कञ्चनमृग बन जाता और तुम उसके पीछे दौड़ते! यह कष्ट मैं कैसे सहूँ? लक्ष्मण, तुम्हारा कुछ दोष नहीं। तुम कुटी से चले गए। मुझे क्षमा करो। प्रभु को समझा दो कि सारा दोष सीता का है। इसीलिए आज मेरे समीप कोई नहीं है। [पेड़ के पत्तों के हिलने का शब्द] वायु बह कर निकल जाती है, एक क्षण रुक कर मेरा संदेसा प्रभु के पास नहीं ले जाती। आकाश में इतने अंगारे फैले हुए हैं, इनमें से कोई भी तो नीचे गिर जाता! यह चन्द्रमा भी ज्वालाओं से जल रहा है। वह एक लपट नीचे की ओर फेंक दे तो मैं उस आग में जल जाऊँ! क्या मैं

इतनी अभागिनी हूँ कि चन्द्रमा की एक लपट भी पाने की अधिकारिणी नहीं? वृक्ष अशोक, तुम्हीं मुझ पर दया करो। अपने नाम को सार्थक करते हुए मुझे भी अशोक बना दो। मेरा शोक दूर कर दो। तुम्हारे नये नये पत्ते आग की तरह लाल हैं। इन्हीं से अग्नि-कण बरसा कर मेरे शरीर का अन्त कर दो। प्रभु राम! तुम्हारे विरह में जल कर भी आज मैं जीवित हूँ! मेरे जीवन को... धिक्कार...है...[सिसकियाँ]

[इसी समय श्री हनुमान जी अशोक वृक्ष से श्रीराम की मुद्रिका नीचे गिरा देते हैं। मुद्रिका के गिरने का शब्द होता है।]

सीता : [चौंक कर] यह कैसा शब्द? क्या आकाश से कोई तारा गिरा, या अशोक वृक्ष ने मेरे जलने के लिए अंगार डाल दिया है......? [देख कर] वैसी ही तो कुछ चमक है। देखूँ, [सीताजी उठ कर मुद्रिका उठाती हैं] यह क्या? यह तो मुद्रिका है! यह मुद्रिका किसकी है...? अरे, इस पर तो राम-नाम अंकित है! ओह, यह मुद्रिका तो प्रभु राम की है...! किन्तु यह यहाँ कैसे? यह यहाँ कैसे आई? इसे कौन लाया? यह तो श्रीराम के हाथों में मैंने पहनाई थी। उनसे कभी एक क्षण दूर नहीं हुई। फिर यह मुद्रिका यहाँ कैसे...? प्रभु राम, तुम कहाँ हो? किसी शत्रु ने तो...नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता। भगवान् राम को कौन जीत सकता है? वे तो अजेय हैं, फिर यह मुद्रिका...मुझे छलने के लिए किसी ने माया से तो इसे नहीं बना दी? किन्तु माया से, त्रिभुवन की माया से यह बनाई भी कैसे जा सकती है? नहीं, नहीं, यह मुद्रिका उन्हीं की है। मेरे प्रभु राम की है। मुद्रिके बोल, तू यहाँ कैसे आई? श्रीराम और लक्ष्मण कुशलपूर्वक तो हैं? तूने राम को कैसे छोड़ दिया? ओह, मेरे राम

को सब छोड़ देते हैं ! नगर से चलते समय नगर-लक्ष्मी ने उन्हें छोड़ दिया, वन के बीच में मैंने उन्हें छोड़ दिया और अब आज से अब मेरी दिशा के मार्ग में तूने उन्हें छोड़ दिया ! अब आज से नारियों पर कौन विश्वास करेगा ? मेरे राम की मुद्रिका......

[श्री सीताजी सिसकियाँ लेती हैं, इसी समय अशोक वृक्ष पर से श्री हनुमान के शब्द]

रघुकुल-मणि रामचन्द्र, दशरथ-सुत रामचन्द्र, सीतापति रामचन्द्र, वानर-प्रिय रामचन्द्र ।

सीता : [आश्चर्य से चौंक कर] यह कौन ?

हनुमान : श्री रामचन्द्र के चरण स्पर्श से अहल्या पवित्र हो गई, श्री रामचन्द्र के हाथों से शिव-धनुष तिनके के समान टूट गया, श्री रामचन्द्र की कृपा से चित्रकूट भी साकेत बन गया, श्री रामचन्द्र की शक्ति से खरदूषण का विनाश हुआ, श्री रामचन्द्र की भक्त-वत्सलता से जटायु ने परम गति प्राप्त की, श्री रामचन्द्र के अनुग्रह से सुग्रीव ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया और श्री रामचन्द्र की कृपा से मुझे उनके चरणों की भक्ति ! [कंठ गद्गद् हो जाता है।]

सीता : जिसने मेरे कानों में इस अमृत-वाणी की वर्षा की है वह मेरे सामने प्रकट हो ।

[अशोक वृक्ष से कूदकर श्री हनुमान श्री सीताजी के सामने आते हैं और प्रणाम करते हैं, श्री सीताजी आश्चर्य-चकित हो मुख फेर कर बैठ जाती हैं ।]

हनुमान : मातुश्री सीता ! मेरे सादर प्रणाम स्वीकार हो । मैं करुणा-निधान श्रीराम की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं श्रीराम का दूत हनुमान हूँ । आप मुझसे मुख फेर कर न बैठें । मैं पुत्र की भाँति आपके दर्शन करना चाहता हूँ; मैं ही यह मुद्रिका लाया हूँ । प्रभु

राम ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है, आप मुझे श्रीराम-दूत मान लें, इसीलिए उन्होंने मुझे यह मुद्रिका देने की कृपा की।

सीता : नर और वानर का साथ कैसे संभव है ?

हनुमान : मातुश्री ! दुष्ट रावण ने जब आपका हरण किया तो आपने अपने कुछ वस्त्र और आभूषण नीचे फेंक दिए थे। वे वानरराज सुग्रीव को प्राप्त हुए। मैं वानरराज सुग्रीव का सहायक हूँ। जब लक्ष्मण सहित श्रीराम आपको खोजते हुए उस स्थान पर आए तो दोनों में मित्रता हुई। सुग्रीव की रक्षा के लिए श्रीराम ने उसके भाई, बालि, का वध किया, फिर सुग्रीव की सहायता से श्रीराम ने आपकी खोज में असंख्य वानर भेजे। मैं राम-दूत हनुमान हूँ, मातुश्री।

सीता : तुम्हारे वचनों पर मुझे विश्वास होता है। तुम मन, वचन और कर्म से प्रभु राम के दास हो। कहो, मेरे प्रभु राम, कैसे हैं और वीर लक्ष्मण कैसे हैं ? मेरे प्रभु तो इतने कोमल हृदय वाले हैं, करुणासिंधु हैं, उन्होंने कैसे इतनी निष्ठुरता की कि अभी तक नहीं आए ? क्या कभी वे मेरा स्मरण करते हैं ? उन्होंने मुझे बिलकुल ही भुला दिया ! हाय, उन्होंने मुझे बिलकुल ही भुला दिया !

हनुमान : नहीं मातुश्री, वे आपको कभी नहीं भूल सके, वे तो आपका सदैव स्मरण करते हैं। वे सब तरह से कुशल हैं, यदि उन्हें दुःख है तो केवल आपका ही दुःख है। वीर लक्ष्मण भी सकुशल हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। आपके प्रति प्रभु राम के हृदय में जो प्रेम है, उसकी थाह नहीं ली जा सकती !

सीता : क्या कभी मेरे नेत्र उनके सुंदर श्याम शरीर को देख कर शीतल होंगे ? ओह, मैं कितनी अभागिनी हूँ !

हनुमान : मातुश्री, प्रभु राम जिनका स्मरण करते रहते हैं, उनके लिए

अभाग्य कैसा ? दुष्ट रावण का सिर काटने के लिए श्रीराम के तरकश में बाण कसकने लगे हैं। श्रीराम ने इस दिशा में प्रस्थान कर दिया है। शीघ्र ही यह दुःख का अंधकार दूर होगा। प्रभु राम की कृपा का सूर्य उदय हो चला है, आप कुछ दिन और धैर्य धारण करें, कपि-सेना के साथ श्रीराम यहाँ आवेंगे और रावण को मार कर आपका उद्धार करेंगे।

सीता : [आनंद विह्वल होकर] श्रीराम मेरा उद्धार करेंगे। मेरा उद्धार करेंगे ! ओह, आज मैं कितनी सुखी हूँ। प्रभु राम, आज मैं तुम्हारे आने के समाचार से कितनी सुखी हूँ !

[इसी समय प्रभात का मंगल वाद्य और समय की सूचना बजती है।]

सीता : [प्रसन्नता से] प्रभात की इस मंगल वेला में, प्रभात की इस मंगल ध्वनि में, मेरी मंगल कामना सफल हो...! मेरे प्रभु राम की जय हो !

[मंगल वाद्य बजते-बजते वायु में लीन हो जाता है।]

समुद्रगुप्त पराक्रमांक

पात्र-सूची

समुद्रगुप्त पराक्रमांक—पाटलिपुत्र के सम्राट्।

धवलकीर्ति—सिंहल के राजदूत।

मणिभद्र—भांडागार के अधिकरण।

कोदण्ड—महाबलाध्यक्ष

घटोत्कच, वीरबाहु—भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा निर्माण करने-वाले शिल्पी।

प्रियदर्शिका—सम्राट् समुद्रगुप्त की वीणावाहिनी।

रत्नप्रभा—राजनर्त्तकी।

प्रहरी—

स्थान—पाटलिपुत्र

काल—४२० वि०

[भांडागार का बाहरी कक्ष। दिवालों पर अनेक नृत्य-मुद्राओं में नर्त्तकियों के चित्र हैं। स्फटिक पत्थरों के स्तम्भों पर दीपों का आलोक हो रहा है। पीछे लोह-दण्डों से बना हुआ परिवेषण है।

मंच के बीच में समुद्रगुप्त खड़े हुए हैं। शरीर पर श्वेत और पीत परिधान। रत्नजटित शिरोभूषण, केश उन्मुक्त। पुष्ट वक्षस्थल जिस पर रत्नों के हार। कटिबन्ध में खड्ग। उनकी मुद्रा गंभीर है।

उनके दाहिनी ओर सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति और राज्य के महाबलाध्यक्ष कोदण्ड हैं और बाईं ओर भांडागार के अधिकरण मणिभद्र हैं। धवलकीर्ति का पीत, मणिभद्र का श्वेत और कोदण्ड का नील परिधान है। कोदण्ड सैनिक-वेश में है। द्वार पर शस्त्र लिए हुए प्रहरी। समुद्रगुप्त धवलकीर्ति को सम्बोधन करते हुए कहते हैं।]

समुद्रगुप्त : तो अब यह निश्चय है कि भांडागार में वे रत्न नहीं हैं!

धवलकीर्ति : यह तो आपने स्वयं देखा, सम्राट्! किन्तु भांडागार से इस तरह चोरी हो जाना आश्चर्यजनक है। भांडागार के अधिकरण मणिभद्र स्वयं कुछ नहीं कह सकते।

समुद्रगुप्त : [तीव्र स्वर से] क्यों नहीं कह सकते? [मणिभद्र से] मणिभद्र, वे रत्न कैसे चोरी चले गये? आज तुम्हारा वह विश्वास कहाँ है जिसमें दो युगों से पाटलिपुत्र की मर्यादा पोषित होती आ रही थी? वह विश्वास कहाँ है जिसमें मैंने तुम्हें कौशल, कांची और देवराष्ट्र की सम्पत्ति सौंपी थी? वह विश्वास कहाँ है जिसमें लिच्छवि-वंश का गौरव निवास करता रहा है? क्या उस विश्वास में विष प्रवेश कर गया? बड़ी से बड़ी संपत्ति की रक्षा करने का

अनुभव लेकर भी तुम दो हीरकखंडों की रक्षा नहीं कर सके? तुमने मेरे विश्वास में इन रत्नों की केवल दो चिनगारियों से आग लगा दी! तुम्हारे ये श्रम-बिन्दु यदि रक्त-बिन्दु बन जाते...! [क्रूर दृष्टि से]

मणिभद्र : सम्राट् अच्छा होता यदि मेरे प्रत्येक रोम से रक्त-बिंदु निकलकर आपके चरणों पर गिरकर कह सकते कि मैं निर्दोष हूं। यदि रक्त-बिन्दु वाणीरहित हैं तो आप उन्हें दूसरी भाषा दीजिए; किन्तु आपके विश्वास की पवित्रता खोकर मैं जीवन की रक्षा नहीं चाहता!

धवलकीर्ति : सम्राट्, आपका विश्वास खोकर कौन अपने जीवन की रक्षा करना चाहेगा? किन्तु मणिभद्र की संरक्षा से रत्नों का चोरी जाना आश्चर्यजनक है!

मणिभद्र : यह आश्चर्य ही मुझे मृत्यु-पीड़ा का दंशन है। सम्राट् ने, जिस विश्वास से मुझे अश्वमेध यज्ञ की संचित निधि सौंपी थी उसी विश्वास की पवित्रता से मैंने उन रत्नों की संरक्षा की थी फिर भी प्रातःकाल वे राज्य-भांडागार में नहीं पाये गये।

समुद्रगुप्त : भांडागार के एक-मात्र अधिकारी तुम्हीं हो मणिभद्र, फिर तुम्हारी आज्ञा के बिना वहाँ कोई प्रवेश ही कैसे कर सकता है?

धवलकीर्ति : यही तो आश्चर्य है, सम्राट्!

समुद्रगुप्त : आश्चर्य से अपराध नहीं छिपाया जा सकता, धवलकीर्ति! अपराध की सहस्र जिह्वाएँ हैं जो अग्नि-शिखा की भाँति चंचल हो सकती हैं और [मणिभद्र से] तुम यह जानते हो मणिभद्र कि भांडागार की रक्षा क्या है! वह कृपाण के दर्पण में बन्द की हुई छाया है, कृपाण से मुक्त नहीं की जा सकती।

मणिभद्र : सम्राट्, मैं अपनी मृत्यु हाथ में लेकर आया हूं। रत्नों का खो जाना ही मेरे लिए सबसे बड़ा अपराध है। मुझे केवल अपने

भाग्य-दोष का दुःख है। यश और कीर्ति के साथ सम्राट् की सेवा पच्चीस वर्षों तक करने के अनन्तर इस भाँति अपयश से मेरे जीवन का अन्त हो! मैं आपसे अपनी मृत्यु माँगने आया हूँ, सम्राट्!

समुद्रगुप्त : मुझसे अपनी मृत्यु माँगने की भी आवश्यकता है?

मणिभद्र : सत्य है, सम्राट्, मैं अभी तक अपने जीवन की समाप्ति कर चुका होता किन्तु आपके समक्ष अपनी आत्मा की पवित्रता के दो शब्द कहे बिना मुझे परितोष न होता। आप मेरे चरित्र के सम्बन्ध में अनेक बातें सोच सकते थे। अब मुझे सन्तोष है, मैंने अपनी आत्मा की पुकार आप तक पहुँचा दी। अब मुझे आज्ञा दीजिये।

समुद्रगुप्त : मणिभद्र, अभी तुम नहीं जा सकोगे। तुम्हारे उत्तरदायित्व के साथ राज्य का भी उत्तरदायित्व है। यदि तुम्हारे अधिकार में सुरक्षित की गई अश्वमेध यज्ञ की सारी सम्पत्ति भी नष्ट हो जाती तो मुझे इतना दुःख न होता जितना इन दो रत्न-खंडों की चोरी से हुआ है। इन रत्नों के साथ जैसे मेरे हृदय की सारी शान्ति और पवित्रता भी खो गई है।

धवलकीर्ति : सम्राट्, उन रत्नों का सम्बन्ध भी पवित्रता से ही था। वे सिंहल की राजमहिषी के कंठहार के प्रधान रत्न थे जो भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के लिए विश्वास से आपकी सेवा में भेजे गये थे।

समुद्रगुप्त : [आश्चर्य से] राजमहिषी के कंठहार से!

धवलकीर्ति : हाँ, सम्राट् मैं ही राजदूत बनकर सिंहल से यह सम्पत्ति लाया हूँ। जब सिंहल के महासामन्त सिरिमेघवन्न ने एक लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ बोधगया में एक विशाल मठ बनवाने और भगवान् बुद्धदेव की रत्न-जटित स्वर्ण-प्रतिमा निर्माण करने के निमित्त स्वर्णपात्रों में सुसज्जित कीं तब राजमहिषी कुमारिला के नेत्रों में श्रद्धा और प्रेम

के आँसू छलक आये। उन्होंने उसी समय महासामन्त से प्रार्थना की कि उनके कण्ठहार के दो प्रधान हीरक-खण्ड श्रीमान् की सेवा में इस अनुरोध के साथ भेज दिये जायँ कि ये हीरक-खण्ड भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के अंगुष्ठ नखों के स्थान पर विजड़ित हों। सम्राट्, ये दोनों हीरक जैसे राजमहिषी कुमारिला की श्रद्धा और प्रेम के दो पवित्र अश्रु-बिन्दु थे, जो आज खो गये! इन अश्रु-बिन्दुओं के खो जाने से भगवान् के चरणों पर राजमहिषी की श्रद्धांजलि न चढ़ सकेगी। प्रतिमा अपूर्ण रहेगी, सम्राट्!

समुद्रगुप्त : [आवेग से] तब सुनो, धवलकीर्ति, तुम सिंहल के राजदूत हो। मेरे महासामन्त की भेंट आनेवाले। तुम्हारे सामने मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि सम्राट् समुद्रगुप्त यदि उन रत्न-खंडों को नहीं खोज सका तो वह अपने राज्याधिकार का ध्यान छोड़कर भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा के सामने कठोर प्रायश्चित्त करेगा!

मणिभद्र : सम्राट्.........

धवलकीर्ति : सम्राट्.........

समुद्रगुप्त : रुको राजदूत, यह प्रतिज्ञा समस्त साम्राज्य के भाग्य-निर्णय के साथ घोषित की जा रही है। यह बुद्धदेव के प्रति मेरे अपराध का दण्ड है! राजमहिषी के विश्वास की रक्षा न कर सकनेवाले का प्रायश्चित है! मेरी घोषणा प्रचारित हो और इसके साथ मेरे भांडागार के अधिकारण का कलंक भी अमर हो! [मणिभद्र की ओर दृष्टि] वह किस रूप में हो, इसका निर्णय अभी होगा।

मणिभद्र : सम्राट्, आपके इन शब्दों में मेरी मृत्यु भी मेरा उपहास कर रही है! जीवन का एक एक क्षण मुझे शूल की भाँति चुभ रहा है। मैं आपकी सेवा से जाने की आज्ञा चाहता हूँ जिससे मैं अपने इस कलंकित जीवन को अधिक कलंकित न कर सकूँ।

समुद्रगुप्त : ठहरो मणिभद्र मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति में तुम्हारी सहायता अपेक्षित होगी। तुम्हारी आत्म-हत्या से मेरा कलंक मिटेगा नहीं। मुझे कुछ बातों के जानने की आवश्यकता है।

धवलकीर्ति : सम्राट्, यदि एकांत की आवश्यकता हो तो मुझे आज्ञा दीजिए।

समुद्रगुप्त : नहीं धवलकीर्ति, ठहरो, तुम्हारे ही संरक्षण में यह मठ और प्रतिमा निर्मित हुई है, तुम्हारी उपस्थिति भी आवश्यक है। मुझे विश्वास है, तुम अपने संकेतों से मेरे प्रयत्न में सहायता पहुँचाओगे। [मणिभद्र से] विश्वासपात्र मणिभद्र, वे रत्न-खंड सर्वप्रथम तुम्हारे अधिकार में कब आये ?

मणिभद्र : सम्राट् आज से दस दिन पूर्व।

समुद्रगुप्त : फिर तुमने उन्हें कहाँ सुरक्षित किया ?

मणिभद्र : इसी कक्ष में, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : अंतरंग प्रकोष्ठ में क्यों नहीं ?

मणिभद्र : मुझे धवलकीर्ति से यह सूचना मिली थी कि मठ और प्रतिमा का कार्य सम्पूर्ण हो गया है और अब वे शीघ्र ही शिल्पियों को दे दिये जावेंगे, अतः उन्हें अंतरंग प्रकोष्ठ में रखने की आवश्यकता नहीं है।

धवलकीर्ति : महासामन्त से मुझे यही आज्ञा मिली थी कि मैं शीघ्रातिशीघ्र मठ और प्रतिमा के निर्माण और उनकी व्यवस्था की चेष्टा करूँ। सिंहल द्वीप के भिक्षुओं को बोधगया में बड़ा कष्ट होता है, इसलिए उनकी सुविधा के लिए शीघ्रातिशीघ्र मठ का निर्माण होना था। सम्राट्, आपकी प्रशंसा नहीं की जा सकती कि आपने भागवत धर्म में विश्वास रखते हुए भी बोधगया में भिक्षुओं के लिए मठ बनवाने की आज्ञा दे दी।

समुद्रगुप्त : यह मेरी प्रशंसा का अवसर नहीं है, धवलकीर्ति ! तो मठ और प्रतिमा की शीघ्र व्यवस्था करने की प्रेरणा से ही तुमने मणिभद्र को अंतरंग प्रकोष्ठ में रत्न रखने से रोक दिया ?

धवलकीर्ति : हाँ, सम्राट्, शिल्पी प्रतिमा-निर्माण का कार्य समाप्त कर चुके थे। दो एक दिन में ही भगवान् बुद्धदेव के चरणों में वे रत्न विजड़ित कर दिये जाते।

समुद्रगुप्त : दो-एक दिन का प्रश्न नहीं था। प्रश्न मणिभद्र के उत्तरदायित्व और कोष-संरक्षा का था। फिर वे रत्न शिल्पियों को दूसरे दिन दे दिये गये ?

मणिभद्र : नहीं सम्राट्, वे रत्न शिल्पियों को नहीं दिये जा सके। शिल्पियों को केवल पूर्व निश्चय के अनुसार चार सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ दी गई थीं।

समुद्रगुप्त : क्यों ?

मणिभद्र : उनका पारिश्रमिक चार सहस्र मुद्राएँ निश्चित किया गया था।

समुद्रगुप्त : तो कार्य-समाप्ति के पूर्व ही उन्हें पारिश्रमिक क्यों दिया गया ?

मणिभद्र : धवलकीर्ति का आदेश था।

समुद्रगुप्त : [धवलकीर्ति से] क्यों धवलकीर्ति, तुम्हारा यह निर्देश सत्य है ?

धवलकीर्ति : सत्य है सम्राट्, मैं उन शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न था। वे अत्यन्त सात्त्विक प्रवृत्तिवाले हैं, मुझे विश्वास था कि वे पुरस्कार पाने के उपरान्त भी रत्न जड़ने का कार्य पूर्ण करेंगे।

समुद्रगुप्त : वे कितने शिल्पी हैं !

धवलकीर्ति : केवल दो हैं, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : उनके नाम ?

धवलकीर्ति : घटोत्कच और वीरबाहु।

समुद्रगुप्त : इस समय वे कहाँ हैं ?

धवलकीर्ति : वे अपने आवास-स्थान पर ही होंगे।

कोदण्ड : नहीं सम्राट्, वे इस समय बंधन में हैं। जब से रत्नों की चोरी का समाचार प्रसिद्ध हुआ है तब से मैंने उन शिल्पियों को बन्दी कर रक्खा है। मैं उन्हें मणिभद्र के साथ ही ले आया था। वे बाहर हैं। यदि आज्ञा हो तो उन्हें सम्राट् की सेवा में उपस्थित करूँ।

समुद्रगुप्त : मैं तुम्हारी सतर्कता से प्रसन्न हूँ, महाबलाध्यक्ष ! यद्यपि मैं जानता हूँ कि शिल्पि निर्दोषी हैं फिर भी मैं उनसे विचार-विनिमय करना चाहूँगा। उन्हें मेरे समक्ष शीघ्र ही उपस्थित करो।

कोदण्ड : [सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

समुद्रगुप्त : तो धवलकीर्ति, तुम शिल्पियों के कार्य से बहुत प्रसन्न हो ?

धवलकीर्ति : हाँ, सम्राट्, उन्होंने केवल एक मास में भगवान् की प्रतिमा का निर्माण कर दिया।

समुद्रगुप्त : उनके निर्माण-कार्य की कुछ विशेषता ?

धवलकीर्ति : सम्राट्, भगवान् की प्रतिमा इतनी सजीव ज्ञात होती है मानो वे संघ को उपदेश देने के अनन्तर अभी ही मौन हुए हैं। उनकी प्रतिमा का ओज अन्य धर्मावलम्बियों को भी बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित करने में समर्थ है।

समुद्रगुप्त : और बोधगया का मठ पूर्ण हो गया ?

धवलकीर्ति : हाँ सम्राट्, मठ भी पूर्ण हो गया। एक सहस्र भिक्षुओं के निवास के योग्य उसमें प्रबन्ध है और उसमें कला-कुशलता चरम

सीमा की उपस्थित की गई है।

समुद्रगुप्त : कला-कुशलता की चरम सीमा से क्या तात्पर्य है ?

धवलकीर्ति : सम्राट्, बुद्धदेव के जीवन के समस्त चित्र दीवालों पर अंकित हैं। महामाया का स्वप्न, गौतम का जन्म, शाक्य नरेश का सुखोत्सव, वैराग्य उत्पन्न करानेवाले रोग, जरा और मृत्यु के चित्र भगवान् गौतम का महाभिनिष्क्रमण, फिर उनकी तपस्या एवं उनके, बोधिसत्व का रूप ! संघ को उपदेश देते हुए उनके चित्रों में महान् ऐश्वर्य और विभूति है।

समुद्रगुप्त : और भिक्षुओं की सुविधा का क्या प्रबंध है ?

धवलकीर्ति : सम्राट्, प्रव्रज्या की समस्त सामग्री प्रत्येक कक्ष में संचित है। चीवर आदि की व्यवस्था देश के अन्य मठों से इसमें विशेष रहेगी। संक्षेप में अब किसी भी भिक्षु को लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि से किसी प्रकार की भी असुविधा नहीं हो सकती।

समुद्रगुप्त : तब तो मठ के समस्त शिल्पियों को राज्य की ओर से भी पुरस्कार प्रदान किया जायेगा, घटोत्कच और वीरबाहु को तो विशेष रूप से। धवलकीर्ति, पाटलिपुत्र में इन दोनों शिल्पियों को आवास कहाँ दिया गया था ?

धवलकीर्ति : जिस अतिथि-शाला में मैं हूँ उसी के समीप राज्य-कुटीर में।

समुद्रगुप्त : तुमने रत्न-मंदिरों के सम्बन्ध में उनसे कभी चर्चा की थी ?

धवलकीर्ति : भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के समाप्त होने के कुछ पहले ही मैंने भगवान् के चरण-अंगुष्ठ में स्थान छोड़ने की आज्ञा देते समय उनसे इन बातों की चर्चा की थी किन्तु उनसे अधिक वार्तालाप कर उनका समय नष्ट करना मैंने उचित नहीं समझा। पारस्परिक बातों के अतिरिक्त मैंने उनसे कभी कोई बात ही नहीं की।

समुद्रगुप्त : तुम सिंहल के प्रमुख कलाविद् हो। फिर कलाकारों से वार्तालाप करना समय नष्ट करना नहीं है, धवलकीर्ति।

धवलकीर्ति : सम्राट्, आप जैसे उत्कृष्ट कलाकार से वार्तालाप करना सौभाग्य की बात है किन्तु सभी कलाकार मेरे समय के अधिकारी नहीं है।

समुद्रगुप्त : तुम भूल करते हो, धवलकीर्ति ! प्रत्येक कलाकार में कुछ न कुछ मौलिकता अवश्य होती है। कलाविद् को चाहिए कि कलाकार की उस मौलिकता का वह रत्नों की भाँति संग्रह करे।

[महाबलाध्यक्ष कोदण्ड का प्रवेश]

कोदण्ड : [प्रणाम कर] सम्राट्, दोनों शिल्पी यहाँ उपस्थित हैं। आज्ञा हो तो उन्हें भीतर लाऊँ।

समुद्रगुप्त : यहाँ उपस्थित करो।

[महाबलाध्यक्ष का प्रस्थान]

समुद्रगुप्त : धवलकीर्ति, ये दोनों शिल्पी क्या सिंहल के निवासी हैं ?

धवलकीर्ति : हाँ, सम्राट् ! इनका आदि स्थान तो सिंहल ही है किन्तु अपनी कलाप्रियता के कारण ये समस्त देश का पर्यटन करते हैं।

[महाबलाध्यक्ष कोदण्ड के साथ घटोत्कच और वीरबाहु का प्रवेश। वे प्रणाम करते हैं।]

कोदण्ड : [संकेत करते हुए] सम्राट्, यह शिल्पी घटोत्कच है और यह वीरबाहु।

समुद्रगुप्त : घटोत्कच और वीरबाहु, सिंहल के शिल्पी, किन्तु समस्त देश के अभिमान, राज्य में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करनेवाले, प्रस्तर में प्राण फूँकनेवाले ! तुम लोगों से राज्य की शोभा है। इसीलिए ये किसी भी दण्ड-विधान से दण्डित नहीं हो सकते। क्यों शिल्पी ! सौन्दर्य किसे कहते हैं ?

घटोत्कच : सम्राट्, विषम वस्तु में समता लाना ही सौन्दर्य है।

समुद्रगुप्त : और तुम क्या समझते हो, वीरबाहु ?

वीरबाहु : हृदय में अनुराग की सृष्टि का साधन ही सुन्दरता है।

समुद्रगुप्त : यदि चोरी के प्रति हृदय में अनुराग है तो वह भी सुन्दरता है, शिल्पी ?

वीरबाहु : सम्राट्, यदि चोरी सात्विक भावों से होती है तो वह सुन्दरता कही जा सकती है।

समुद्रगुप्त : सात्विक भावों से कौन-सी चोरी होती है ?

वीरबाहु : कला, कविता और नारी-हृदय की सम्राट्, जिसमें निरीहता और पवित्रता है।

समुद्रगुप्त : और रत्न-खंडों की चोरी, शिल्पी ?

वीरबाहु : वह सुन्दरता नहीं है सम्राट्, रत्न-खंडों की चोरी में तृष्णा है, जिसका रूप दुःख है और फल पाप है।

समुद्रगुप्त : तुम्हें ज्ञात है कि सिंहल से भेजे गये रत्न-खंड चोरी चले गये ?

वीरबाहु : सम्राट्, मुझे इसकी सूचना महाबलाध्यक्ष से ज्ञात हुई। यही कारण है कि प्रातःकाल से हम लोगों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध है। हमारी रक्षा कीजिए सम्राट् !

समुद्रगुप्त : तुम लोगों की पूर्ण रक्षा होगी शिल्पी, पहले मेरे प्रश्नों के उत्तर दो।

वीरबाहु : प्रश्न कीजिए, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : तुम्हें दो सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं ?

वीरबाहु : हाँ, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : और घटोत्कच, तुम भी पुरस्कृत हो चुके हो ?

घटोत्कच : हाँ, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : तुम लोग कार्य-समाप्ति के पूर्व ही पुरस्कृत क्यों हुए ?

घटोत्कच : धवलकीर्ति की प्रसन्नता ही इसका कारण है।

वीरबाहु : या हम लोगों की कार्य-कुशलता।

समुद्रगुप्त : क्या इस बात की संभावना हो सकती है कि उन दो सहस्र मुद्राओं में वे रत्न खंड भी चले गये हों ?

घटोत्कच : सम्राट्, यदि रत्न-खंड उन स्वर्ण मुद्राओं में मिलते तो मैं मणिभद्र को इस बात की सूचना अवश्य देता।

वीरबाहु : सम्राट्, मेरा निवेदन तो यह है कि यदि मुझे दो सहस्र मुद्राओं से एक मुद्रा भी अधिक मिलती तो मैं वह मणिभद्र के पास भेज देता।

समुद्रगुप्त : इस बात का प्रमाण ?

घटोत्कच : सम्राट्, हृदय की निर्मलता का प्रमाण केवल निर्मल हृदय ही पा सकता है।

समुद्रगुप्त : क्यों शिल्पी, क्या तुम्हें मेरे हृदय की निर्मलता में विश्वास नहीं है ?

घटोत्कच : सम्राट्, हमें पूर्ण विश्वास है, इसीलिए आपसे निवेदन करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि आज तक मैंने भगवान् बुद्धदेव की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण किया है। भगवान् बुद्धदेव की प्रतिमा तथा उनके जीवन के अनेक चित्रों को अंकित करते करते मेरे हृदय में—मेरी कला में—भी तथागत की प्रतिमा का निर्माण हो गया है। उनके आदर्श मेरी प्रत्येक श्वास में निवास करते हैं। उनके 'आर्य-सत्य' मेरी प्रत्येक यति और गति में संचारित हो गये हैं। ऐसी स्थिति में रत्न-खंडों की प्रभा मेरे चरित्र को कलंकित नहीं कर सकती।

समुद्रगुप्त : वीरबाहु, तुम्हारा क्या कथन है ?

वीरबाहु : सम्राट्, जो रत्न-खंड भगवान् बुद्धदेव के चरणों में स्थान पाने के लिए भेजे गये थे वे रत्न-खंड निर्जीव हैं और हम लोगों के हृदय सजीव। निर्जीवों में इतनी शक्ति नहीं है कि वे सजीवों की प्रकृति में बाधा डाल सकें। यदि आवश्यकता होगी तो रत्न-खंडों के स्थान पर हम लोग अपने हृदय भी विजड़ित करने के लिए प्रस्तुत होंगे।

समुद्रगुप्त : दोनों ही उच्च कोटि के कलाकार तथा शिल्पी हैं। घटोत्कच, बुद्धदेव की प्रतिमा का निर्माण हो गया ?

घटोत्कच : सम्राट्, पिछले सप्ताह ही पूर्ण हो गया।

समुद्रगुप्त : फिर रत्न-खंडों को प्राप्त करने में इतना विलम्ब क्यों हुआ ?

घटोत्कच : सम्राट्, मैंने धवलकीर्ति से रत्न-खंडों के शीघ्र पाने की याचना की थी, किन्तु उन्हें अवकाश नहीं था।

समुद्रगुप्त : धवलकीर्ति को अवकाश नहीं था ! क्यों धवलकीर्ति ?

धवलकीर्ति : सम्राट्, मैं पाटलिपुत्र का उपासक हूँ। उसके सौंदर्य को देखने की इच्छा अनेक वर्षों से मेरे हृदय में थी। मैं यहाँ आकर उसे अधिक से अधिक देखने के अवसर प्राप्त करना चाहता था, अतः मैं प्रायः आपके नगर के उद्यानों और सरोवरों ही में अपने जीवन की अनुभूतियाँ प्राप्त करता था, किन्तु, फिर भी शिल्पियों की आवश्यकता का ध्यान मुझे सदैव रहा करता था।

घटोत्कच : किन्तु गत सन्ध्या को जब मैंने आपकी सेवा में आने की चेष्टा की तो मुझे ज्ञात हुआ कि पाटलिपुत्र में आकर नृत्य-दर्शन की ओर आपकी विशेष अभिरुचि हो गई है, आप नृत्यों की विशेष भाव-भंगिमाओं के चित्र-संग्रह में इतने व्यस्त रहते हैं कि आपको मेरी प्रार्थनाओं के सुनने का अवकाश नहीं था।

धवलकीर्ति : घटोत्कच, मेरी रुचि की समालोचना करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है ।

समुद्रगुप्त : शान्त, धवलकीर्ति, मुझे यह सुनकर प्रसन्नता है कि तुम्हें नृत्य-कला विशेष प्रिय है । तुमने पाटलिपुत्र की राजनर्तकी का नृत्य सम्भव है, अभी तक न देखा हो । वह भी मैं तुम्हें दिखलाने का प्रयत्न करूँगा ।

धवलकीर्ति : सम्राट्, आपकी विशेष कृपा है ।

समुद्रगुप्त : मैं उसे अभी दिखलाने का प्रबन्ध करूँगा । मेरे नृत्य देखने का समय भी हो गया । [महाबलाध्यक्ष से] कोदण्ड, तुम इन शिल्पियों को न्याय-सभा की उत्तर-शाला में स्थान दो । [शिल्पियों से] शिल्पी घटोत्कच और वीरबाहु, तुम्हारे उत्तरों से मैं प्रसन्न हुआ । राजकीय नियमों के आचरण में यदि शिल्प-साधकों को कुछ असुविधा हो तो वह उपेक्षणीय है । तुम ध्यान मत देना शिल्पी !

वीरबाहु : सम्राट् की जो आज्ञा ।

धवलकीर्ति : मुझे कोई असुविधा नहीं है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : तो तुम लोग जाओ, राज-शिल्पियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं होनी चाहिए ।

कोदण्ड : जो आज्ञा, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : और सुनो कोदण्ड, राजनर्त्तकी रत्नप्रभा को इसी स्थान पर आने की सूचना दो । आज मैं धवलकीर्ति के साथ इसी स्थान पर राजनर्त्तकी का नृत्य देखूँगा ।

[कोदण्ड और शिल्पी जाने के लिए उद्यत होते हैं ।]

समुद्रगुप्त : और सुनो, प्रियदर्शिका से कहना कि वह मेरी वीणा ले आये । आज मैं फिर वीणा बजाना चाहता हूँ । केदारा के स्वरों का

सन्धान हो !

कोदण्ड : जो आज्ञा।

[कोदण्ड और शिल्पियों का प्रस्थान]

समुद्रगुप्त : [मणिभद्र से] मणिभद्र दुर्भाग्य से यदि यह तुम्हारी, अन्तिम रात्रि हो तो तुम्हें अपने सम्राट् की वीणा सुनने का अवसर क्यों न मिले ? तुम भी सुनो।

मणिभद्र : यह मेरा सौभाग्य है, सम्राट् !

धवलकीर्ति : सम्राट्, फिर मुझे आज्ञा दीजिये।

समुद्रगुप्त : क्यों धवलकीर्ति, क्या तुम हमारी वीणा नहीं सुनोगे और राजनर्त्तकी का नृत्य नहीं देखोगे ? तुम तो बड़े भारी कलाकार हो।

धवलकीर्ति : सम्राट्, प्रशंसा के लिए धन्यवाद। मैं सोचता हूँ कि कला की उपासना के लिए पवित्र मन की आवश्यकता है। मेरा मन इस घटना से बहुत अव्यवस्थित हो गया है।

समुद्रगुप्त : मैं अपनी वाणी से तुम्हारा हृदय व्यवस्थित कर दूँगा। फिर आज इस वादन और नृत्य को तुम मणिभद्र की विजय-विदा समझो। जिस मणिभद्र ने पच्चीस वर्षों तक राज्य की सेवा की है उसके अन्तिम क्षणों को मुझे अधिक से अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस मंगल-वेला के समय तुम्हें भी उपस्थित रहना चाहिए। पाटलिपुत्र के न्यायाचरण में सिंहल का भी प्रतिनिधित्व हो।

धवलकीर्ति : सम्राट्, आपका कथन सत्य है, किन्तु मैंने समझा, सम्भवतः आप एकान्त चाहते हैं।

समुद्रगुप्त : नहीं धवलकीर्ति, ऐसे समारोहों में एकान्त टूटे हुए तार की तरह कष्टदायक है !

धवलकीर्ति : [सँभलकर] और सम्राट्, आपकी वीणा में वह स्वर है जो टूटे हुए हृदयों को भी जोड़ देता है। आप संगीत-कला में नारद और तुम्बुरु को भी लज्जित करते हैं। आपकी संगीत-प्रियता इसी बात से स्पष्ट है कि आपकी मुद्राओं पर वीणा बजाती हुई राजमूर्ति अंकित है। मैंने सुना है कि आपने अपने अश्वमेध यज्ञ के उपरान्त दो मास तक संगीतोत्सव किया था।

समुद्रगुप्त : यह सरस्वती की साधना करने की सबसे सरल युक्ति है, अच्छा धवलकीर्ति, तुम भी तो संगीत जानते हो ?

धवलकीर्ति : सम्राट्, आपकी साधना की समानता कौन कर सकता है, किन्तु इस कला की ओर मेरी अभिरुचि अवश्य है।

समुद्रगुप्त : और नृत्य-कला भी तो जानते होगे ?

धवलकीर्ति : सम्राट्, नृत्य-कला का मैंने अध्ययन मात्र किया है उसकी विवेचना कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं नृत्य नहीं कर सकता।

समुद्रगुप्त : नृत्य-कला देखने से प्रेम है ?

धवलकीर्ति : यह सिंहल के वातावरण का प्रभाव है।

समुद्रगुप्त : मुझे प्रसन्नता है कि सिंहल का वातावरण मेरी अभिरुचि के अनुकूल है। फिर तो राजनर्त्तकी के नृत्य से तुम्हें विशेष प्रसन्नता होगी।

धवलकीर्ति : यह सम्राट् का अनुग्रह है।

समुद्रगुप्त : और मेरी वीणा के स्वर भी आज मुखरित होंगे।

धवलकीर्ति : आपकी वीणा तो स्वर्गीय संगीत है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : अधिक नहीं, धवलकीर्ति ! किन्तु संगीत ईश्वरीय विभूति की वह किरण है जिससे मनुष्य देवता हो जाता है। हृदय का समस्त कालुष्य वीणा की एक झंकार से ही दूर हो जाता है।

[प्रियदर्शिका का वीणा लिए हुए प्रवेश। वह प्रणाम करती है।]

समुद्रगुप्त : आओ प्रियदर्शिके, आज मैं फिर वीणा बजाऊँगा।

प्रियदर्शिका : [वीणा आगे प्रस्तुत कर] प्रस्तुत है, सम्राट् !

समुद्रगुप्त : [वीणा हाथ में लेते हुए] केदारा के स्वर्ण में वीणा का सन्धान है ?

प्रियदर्शिका : हाँ, सम्राट् इसी राग की आज्ञा प्राप्त हुई थी।

समुद्रगुप्त : राजनर्त्तकी रत्नप्रभा का शृंगार पूर्ण हुआ ?

प्रियदर्शिका : वे तैयार हैं, आपकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा चाहती हैं।

समुद्रगुप्त : उन्हें नृत्य के साथ आने दो, केदारा स्वरों में !

प्रियदर्शिका : [सिर झुकाकर] जो आज्ञा ! [प्रस्थान]

समुद्रगुप्त : [वीणा के तारों पर उँगलियाँ फेरते हुए] सुनो धवलकीर्ति, केदारा के स्वर में वह भावना है कि करुणा की समस्त मूर्छनाएँ एक बार ही हृदय में जाग्रत हो जाती है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे सारा संसार तरल होकर किसी की आँखों से आँसू बनकर निकलना चाहता है। तारिकाएँ आकाश की गोद में सिमिट कर पतली किरणों में प्रार्थना करने लगती हैं। कलिकाएँ सुगंधि की वेदना से फूल बन जाती हैं और बिन्दु में डूबकर पृथ्वी के चरणों में आत्मसमर्पण करना चाहती हैं। अच्छा, तो सुनो वह रागिनी !

[समुद्रगुप्त वीणा पर केदारा का स्वर छेड़ते हैं। धीरे-धीरे बजाते हुए वे तन्मय हो जाते हैं। उसी क्षण रत्नप्रभा का नृत्य करते हुए प्रवेश। रत्नप्रभा के अंग-अंग से रागिनी की गति व्यक्त हो रही है। वह अट्ठारह वर्षीया सुन्दरी है। सौन्दर्य की रेखाओं ही में उसके शरीर की आकृति है। केश-कलाप में पुष्पों की मालाएँ, शरीर में अंगराग और चन्दन की चित्र-रेखाएँ हैं। मस्तक पर केसर का पुष्पांकन। बीच में कुंकुम का बिन्दु। नेत्र-कोरों में अंजन की रेखा। चिबुक पर कस्तूरी बिन्दु। कंठ में

मुक्ताहार। हृदय पर रत्न-राशि। कटि में दोलायमाना किंकणी और पैरों में नूपुर। वह केदारा राग की साकार प्रतिमा बनकर नृत्य कर रही है। साथ ही सम्राट् समुद्रगुप्त की वीणा में निकलती हुई रागिनी राज-नर्त्तकी के पद-विन्यास में माधुर्य भर रही है। कुछ समय नृत्य करने के उपरान्त 'सम' पर राजनर्त्तकी हाथ जोड़कर भावमुद्रा में सम्राट् के समक्ष तिरछी होकर खड़ी हो जाती है।]

समुद्रगुप्त : [प्रसन्न होकर] मेरे राज्य की उर्वशी, तुम बहुत सुन्दर नृत्य करती हो! ....यह पुरस्कार!

[गले से मोती की माला उतार कर देते हैं।]

रत्नप्रभा : [हाथ जोड़कर] सम्राट्, मैं इसके योग्य नहीं हूँ। मुझसे आज दो बहुत बड़े अपराध हुए हैं।

समुद्रगुप्त : [भ्रांत होकर] तुमसे? कभी कोई अपराध नहीं हुआ। कौन-सा अपराध?

रत्नप्रभा : पहला अपराध तो यह है कि मैं आपकी मधुर वीणा के अनुकूल नृत्य नहीं कर सकी। आपके संगीत की मर्यादा कभी भंग नहीं हुई। आज मेरे नृत्य के कारण आपका संगीत कलुषित हो गया, सम्राट्!

समुद्रगुप्त : नहीं रत्नप्रभा, अपने नृत्य से तुमने मेरे स्वरों में सहायता ही पहुँचाई है, हानि नहीं!

रत्नप्रभा : सम्राट्, मैं अनुग्रहीत हूँ। आपने कभी मेरे नृत्य के साथ वीणा नहीं बजाई। आज आपने मेरे नृत्य को अनंत गौरव प्रदान किया है।

समुद्रगुप्त : यह कला की साधना में आवश्यक है! अच्छा दूसरा अपराध कौन-सा है?

रत्नप्रभा : सम्राट्, आज आपने इतनी मधुर वीणा बजाई कि संगीत

की इस दिव्य अनुभूति में मेरे हृदय का समस्त दोष दूर हो गया और आज मैं अपना अपराध स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

समुद्रगुप्त : मैं उत्सुक हूँ सुनने के लिए, रत्नप्रभा !

रत्नप्रभा : सम्राट्, राजनर्त्तकी होकर मैंने एक अन्य व्यक्ति से भेंट स्वीकार की !

समुद्रगुप्त : [उत्सुकता से] किससे ?

धवलकीर्ति : [शीघ्रता से] मुझसे, सम्राट् सिंहल के राजदूत धवलकीर्ति से।

समुद्रगुप्त : तो इसमें कोई हानि नहीं। तुम तो हमारे राज्य के अतिथि हो तुमसे भेंट स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है।

रत्नप्रभा : फिर भी सम्राट्, अन्य राज्य के व्यक्ति की भेंट स्वीकार करने की आज्ञा मेरी आत्मा मुझे नहीं देती। इनकी यह भेंट आप ही के चरणों में समर्पित करती हूँ। और वह यह है।

[सम्राट् के चरणों में दो हीरक-खंड समर्पित करती है]

मणिभद्र : [हीरक-खंडों को देखकर प्रसन्नता से] वे हीरक-खंड यही हैं, यही हैं [उद्वेग से] महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे, महाराज प्रायश्चित्त नहीं करेंगे !

समुद्रगुप्त : [रत्नों को हाथ में लेकर] ठहरो, ठहरो मणिभद्र, प्रसन्नता से पागल मत बनो। [धवलकीर्ति से] राजदूत धवलकीर्ति, क्या यह सत्य है ?

धवलकीर्ति : [लज्जा से नीचे सिर करके मौन है]

समुद्रगुप्त : बोलो राजदूत ! क्या तुम इसी आचरण से राजदूतत्व का निर्वाह करते हो ?

धवलकीर्ति : सम्राट् मैं लज्जित हूँ।

समुद्रगुप्त : राजदूत, मुझे तुम पर पहले ही कुछ शंका हो रही थी।

मणिभद्र की आत्म-हत्या के विचार पर तुम मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे, राजमहिषी कुमारिला के कंठ-हार के रत्नों की पवित्रता का संदेश जतलाकर तुम राज्याधिकार को लांछित करना चाहते थे, तुम इसीलिए शिल्पियों पर प्रसन्न हुए कि वे रत्न-खंडों के लिए अधिक जिज्ञासा न करें, तुम रत्नप्रभा के नृत्य के पूर्व ही चले जाना चाहते थे जिससे तुम रत्नप्रभा के समक्ष दोषी होने से बच सको। मैंने इसीलिए आज वीणा बजाई जिससे संगीत के वातावरण में अपराधी विह्वल हो जाय और अपना रहस्य खोल दे। नहीं तो मर्यादा के संकट में संगीत की क्या आवश्यकता? तुम्हें मेरे ही राज्य में आकर विष का बीज बोना चाहते हो? बोलो, तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय?

धवलकीर्ति : सम्राट्, जो चाहें मुझे दण्ड दें।

समुद्रगुप्त : तुम जानते हो धवलकीर्ति, राजदूत दण्डित नहीं होता इसीलिए तुम निर्भीकता से कहते हो, सम्राट् जो चाहें मुझे दण्ड दें। किन्तु तुम यह ठीक तरह से समझ लो कि समुद्रगुप्त पराक्रमांक न्याय को देवता मानकर पूजता है और अन्याय को दैत्य समझकर उसका विनाश करता है। मैं अपने महासामन्त सिरिमेघवर्ण से तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था कराऊँगा। तुमने राजमहिषी कुमारिला के रत्न-खंडों को स्वयं कलुषित किया है, मणिभद्र के प्राण संकट में डाले हैं, राजनर्त्तकी को मर्यादा के पथ से विचलित करने का प्रयत्न किया है। दण्ड तुम्हें पाकर सुखी होगा।

धवलकीर्ति : सम्राट्, मुझे अधिक लज्जित न कीजिए। मैं स्वयं परिताप की अग्नि में जल रहा हूँ।

समुद्रगुप्त : उस परिताप की अग्नि के प्रकाश में क्या यह स्पष्ट कर सकते हो कि ये रत्न-खंड तुमने मणिभद्र की संरक्षा से किस प्रकार मुक्त किये?

धवलकीर्ति : अपने अन्तिम समय में मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा, सम्राट् ! आपको अभी ज्ञात हुआ कि शिल्पियों की कार्य-समाप्ति के पूर्व ही शिल्पियों को मैंने प्रसन्न हो निश्चित् पारिश्रमिक दे दिया और वह इसलिए कि जब मेरे सामने मणिभद्र उन्हें देने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ गिने तो मैं मणिभद्र का ध्यान सिंहल की मुद्राओं की विशेषता की ओर बार-बार आकर्षित करूँ। ऐसे ही किसी अवसर पर मैं वे रत्न-खंड दृष्टि बचाकर मंजूषा में से निकाल लूँ। अपने कार्य क सरलता के कारण ही मैंने उन रत्नों को भांडागार के भीतरी प्रकोष्ठ में न रखने का परामर्श मणिभद्र को दिया।

समुद्रगुप्त : फिर रत्नप्रभा को तुमने किस विचार से ये रत्न भेंट किये ?

धवलकीर्ति : मैंने उससे नृत्य करने की प्रार्थना की किन्तु उसने कहा कि मैं सम्राट् की आज्ञा के बिना किसी दूसरे के समक्ष नृत्य नहीं करूँगी। मैंने बार-बार प्रार्थना की और उसकी सुन्दरता के अनुरूप ही हीरक-खंडों की भेंट की। उसने मौन होकर वे रत्न-खंड ले लिये। न जाने क्या सोचकर और क्या समझकर !

समुद्रगुप्त : फिर रत्नप्रभा ने तुम्हारे सामने नृत्य किया ?

धवलकीर्ति : नहीं सम्राट् उसने फिर भी अस्वीकार किया।

समुद्रगुप्त : रत्नप्रभा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अब स्वीकार करो अपना यह पुरस्कार।

[हाथ में रखी हुई माला देते हैं।]

रत्नप्रभा : [माला लेकर सिर झुकाकर] सम्राट्, आपकी प्रसन्नता में ही मेरे पुरस्कृत होने की सार्थकता है।

समुद्रगुप्त : मेरे साम्राज्य में इस प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता, इसी बात से मैं सुखी हूँ।

धवलकीर्ति : सम्राट्, मुझे और किसी प्रश्न का उत्तर देना है ?

समुद्रगुप्त : नहीं, अब केवल महासामन्त को सूचना देनी है कि राजमहिषी के रत्न-खंडों को भगवान् बुद्धदेव की श्रद्धा में समर्पित न कर राजनर्तकी को भेंट करने के अपराध में जो दण्ड-व्यवस्था हो उसका प्रबन्ध करें।

धवलकीर्ति : सम्राट्, आप उन्हें सूचना देने का कष्ट न उठाएँ। मैंने मणिभद्र के साथ विश्वासघात किया, राजमहिषी के हीरक-खंडों को कलुषित किया, राजनर्त्तकी को मर्यादा से विचलित करने की चेष्टा की, और सम्राट् आपके प्रायश्चित करने का अवसर उपस्थित किया, इन सबका सम्मिलित दण्ड बहुत भयानक है। यदि मुझे सौ बार प्राणदण्ड दिया जाय, तब भी वह पर्याप्त नहीं है! मैं अपनी ओर से सबसे बड़ा दण्ड स्वयं अपने को दे रहा हूँ और वह है आत्महत्या! [कटार अपने हृदय में मार लेता है और सम्राट् के समक्ष ही गिर पड़ता है।

मणिभद्र और राजनर्त्तकी के मुख से आश्चर्य और दुःख की ध्वनि]

समुद्रगुप्त : स्वयं दण्डित होने से अब तुम अपराधों से मुक्त हुए धवलकीर्ति, तुमने अपने नाम को धवल ही रहने दिया।

धवलकीर्ति : [अस्फुट स्वरों में] मैं......राजमहिषी को......अपना मुख......नहीं......दिखला सकता था......सम्राट्, मेरी......कला की......उपासना......असत्य है! मुझे......शान्ति......से......मरने......दें! आपका......संगीत......।

समुद्रगुप्त : हाँ, धवलकीर्ति! मैं तुम्हें संगीत सुनाऊँगा। राजनर्त्तकी, तुम नृत्य करो, सच्चे अपराधी की मृत्यु को मंगलमय बनाओ। मणिभद्र के स्थान पर धवलकीर्ति को विजय-विदा दो। मैं भी वीणा-वादन करूँगा। शिल्पियों को मुक्त कर यहाँ आने का निमंत्रण

धवलकीर्ति : अपने अन्तिम समय में मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा, सम्राट् ! आपको अभी ज्ञात हुआ कि शिल्पियों की कार्य-समाप्ति के पूर्व ही शिल्पियों को मैंने प्रसन्न हो निश्चित् पारिश्रमिक दे दिया और वह इसलिए कि जब मेरे सामने मणिभद्र उन्हें देने के लिए स्वर्ण-मुद्राएँ गिने तो मैं मणिभद्र का ध्यान सिंहल की मुद्राओं की विशेषता की ओर बार-बार आकर्षित करूँ। ऐसे ही किसी अवसर पर मैं वे रत्न-खंड दृष्टि बचाकर मंजूषा में से निकाल लूँ। अपने कार्य क सरलता के कारण ही मैंने उन रत्नों को भांडागार के भीतरी प्रकोष्ठ में न रखने का परामर्श मणिभद्र को दिया।

समुद्रगुप्त : फिर रत्नप्रभा को तुमने किस विचार से ये रत्न भेंट किये ?

धवलकीर्ति : मैंने उससे नृत्य करने की प्रार्थना की किन्तु उसने कहा कि मैं सम्राट् की आज्ञा के बिना किसी दूसरे के समक्ष नृत्य नहीं करूँगी। मैंने बार-बार प्रार्थना की और उसकी सुन्दरता के अनुरूप ही हीरक-खंडों की भेंट की। उसने मौन होकर वे रत्न-खंड ले लिये। न जाने क्या सोचकर और क्या समझकर !

समुद्रगुप्त : फिर रत्नप्रभा ने तुम्हारे सामने नृत्य किया ?

धवलकीर्ति : नहीं सम्राट् उसने फिर भी अस्वीकार किया।

समुद्रगुप्त : रत्नप्रभा, मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अब स्वीकार करो अपना यह पुरस्कार।

[हाथ में रखी हुई माला देते हैं।]

रत्नप्रभा : [माला लेकर सिर झुकाकर] सम्राट्, आपकी प्रसन्नता में ही मेरे पुरस्कृत होने की सार्थकता है।

समुद्रगुप्त : मेरे साम्राज्य में इस प्रकार का अन्याय नहीं हो सकता, इसी बात से मैं सुखी हूँ।

धवलकीर्ति : सम्राट्, मुझे और किसी प्रश्न का उत्तर देना है ?

समुद्रगुप्त : नहीं, अब केवल महासामन्त को सूचना देनी है कि राज-महिषी के रत्न-खंडों को भगवान् बुद्धदेव की श्रद्धा में समर्पित न कर राजनर्तकी को भेंट करने के अपराध में जो दण्ड-व्यवस्था हो उसका प्रबन्ध करें ।

धवलकीर्ति : सम्राट्, आप उन्हें सूचना देने का कष्ट न उठाएँ । मैंने मणिभद्र के साथ विश्वासघात किया, राजमहिषी के हीरक-खंडों को कलुषित किया, राजनर्त्तकी को मर्यादा से विचलित करने की चेष्टा की, और सम्राट् आपके प्रायश्चित करने का अवसर उपस्थित किया, इन सबका सम्मिलित दण्ड बहुत भयानक है । यदि मुझे सौ बार प्राणदण्ड दिया जाय, तब भी वह पर्याप्त नहीं है ! मैं अपनी ओर से सबसे बड़ा दण्ड स्वयं अपने को दे रहा हूँ और वह है आत्महत्या !

[कटार अपने हृदय में मार लेता है और सम्राट् के समक्ष ही गिर पड़ता है । मणिभद्र और राजनर्त्तकी के मुख से आश्चर्य और दुःख की ध्वनि]

समुद्रगुप्त : स्वयं दण्डित होने से अब तुम अपराधों से मुक्त हुए धवल-कीर्ति, तुमने अपने नाम को धवल ही रहने दिया ।

धवलकीर्ति :-[अस्फुट स्वरों में] मैं......राजमहिषी को......अपना मुख......नहीं......दिखला सकता था......सम्राट्, मेरी......कला की......उपासना......असत्य है ! मुझे......शान्ति......से......मरने......दें ! आपका......संगीत......!

समुद्रगुप्त : हाँ, धवलकीर्ति ! मैं तुम्हें संगीत सुनाऊँगा । राजनर्त्तकी, तुम नृत्य करो, सच्चे अपराधी की मृत्यु को मंगलमय बनाओ । मणिभद्र के स्थान पर धवलकीर्ति को विजय-विदा दो । मैं भी वीणा-वादन करूँगा। शिल्पियों को मुक्त कर यहाँ आने का निमंत्रण

दो। आज धवलकीर्ति मृत्यु के समय मेरा मंगलवाद्य सुने। राजनर्त्तकी, नृत्य शीघ्र प्रारम्भ हो।

[राजनर्त्तकी नृत्य करने के लिए प्रस्तुत होती है और सम्राट् समुद्रगुप्त अपने हाथ में वीणा लेकर स्वर छेड़ते हैं।

परदा गिरता है।]

सम्राट् विक्रमादित्य

पात्र-सूची

श्री विक्रमादित्य—शकारि अवन्तिनाथ।

विभावरी (भूमक)—छद्मवेषी शककुमार।

पुष्पिका—उज्जयिनी-निवासिनी।

उद्यान-रक्षिका, प्रहरी, वधिक।

स्थान—उज्जयिनी

काल—सन् ५७ ई० पू०

[श्री विक्रमादित्य (आयु २६ वर्ष) की न्याय-सभा का बाहरी कक्ष । एक सिंहासन है जिसके दोनों ओर सिंह की दो विशाल प्रतिमाएँ हैं । सिंहासन के पीछे एक मेहराब है जिसके मध्य में सूर्य-मण्डल है । शिल्पकला से सजाए गए पत्थरों पर बेल-बूटेदार आकृतियाँ हैं, जिनमें कमल और उसके चारों ओर मृणाल की जाली है । फर्श भी रंगीन पत्थरों का है और उसमें सरोवरों की लहरों का आभास है । मेहराब से हटकर एक वातायन है जिससे कुछ दूर पर क्षिप्रा का प्रवाह दीख रहा है । कमरे में सुगन्धित द्रव्य का धूम है और चारों ओर रंगीन प्रकाश की शलाकाएँ हैं । द्वार के समीप काठ का एक त्रिभुज है जिसमें एक घण्टा लटक रहा है ।

सिंहासन पर श्री विक्रमादित्य आसीन हैं । देवतुल्य शरीर, घुटने तक लम्बी बाँहें, प्रशस्त ललाट, चौड़ा और ऊँचा वक्षस्थल, कटि-प्रदेश पुष्ट जैसे विश्वकर्मा ने अपने चक्र-यंत्र पर चढ़ाकर उनकी आकृति और शोभा को चमका दिया है । उनकी कमर में अपराजित खड्ग कसा हुआ है जो उनके पुरुषार्थ रूपी सागर की उच्छल तरंग है । वे राजसी वस्त्र पहने हुए हैं । सिर पर रत्न-जटित मुकुट है ।

मंच की सीढ़ियों पर दाहिनी ओर एक युवती विभावरी (आयु २२ वर्ष) खड़ी है । मोतियों से परिपूर्ण सीमन्त और वेणी में बन्धूकपुष्प । कन्धों पर हरा उत्तरीय और कमर में पीले रेशम का कटिबन्ध । हृदय पर मोतियों की माला और पुष्पहार । उसका शेष शृंगार फूलों का ही है ।

कक्ष में इस समय केवल ये दोनों ही हैं। गंभीर घोष से श्री विक्रमादित्य मौन भंग करते हैं।]

विक्रमादित्य : आश्चर्य है उज्जयिनी में तुम्हारा अपमान हुआ!

विभावरी : सम्राट, उस अपमान की यंत्रणा से आज दिन भर रुदन करने के कारण मेरे कण्ठ की विकृति हो गई है।

विक्रमादित्य : आर्य-नारियाँ रुदन नहीं करतीं। तुम्हारा नाम क्या है, देवी?

विभावरी : विभावरी, सम्राट्!

विक्रमादित्य : विभावरी!......कहाँ की निवासिनी हो?

विभावरी : विदिशा में मेरा निवास है, सम्राट्!

विक्रमादित्य : उज्जयिनी में कब से निवास कर रही हो?

विभावरी : शरद्-पूर्णिमा के पर्व से। एक मास से कुछ ही अधिक समय हुआ।

विक्रमादित्य : यहाँ तुम आई किसलिए थीं?

विभावरी : पुण्यतीर्था उज्जयिनी में क्षिप्रा-स्नान के लिए।

विक्रमादित्य : कितने दिनों से क्षिप्रा-स्नान कर रही हो?

विभावरी : पिछले तीन वर्षों से, सम्राट्!

विक्रमादित्य : प्रत्येक वर्ष तुम यहाँ एक मास से अधिक ठहरती हो?

विभावरी : नहीं सम्राट्, जब से आपका शासन हुआ है तब से यहाँ अधिक ठहरने लगी हूँ।

विक्रमादित्य : क्यों?

विभावरी : सम्राट्, आपके शासन में उज्जयिनी की पवित्रता नक्षत्रों की पवित्रता के समान है। यहाँ चारणों के भैरव राग में पुष्पों ने अपनी पंखुड़ियाँ खोलना सीखा है। जो नगरी अपने वैभव के स्तूपों में अपने हाथ फैलाकर आपके चरणों की वन्दना कर रही है, वह नगरी मेरे लिए इतना आकर्षण क्यों न रखे, सम्राट्?

विक्रमादित्य : इसे मैं कैसे सत्य समझूँ जब विभावरी जैसी आर्य-नारी अभियोगिनी के रूप में मेरे सामने उपस्थित है।

विभावरी : यह मेरा भाग्य-दोष है, सम्राट् ! सूर्य का आलोक कण-कण को प्रकाशित करता है किन्तु पहाड़ की कन्दरा में अन्धकार ही रहता है। यह सूर्य का दोष नहीं है प्रभो, यह कन्दरा का दोष है जो पत्थरों को तोड़कर उसमें छिपकर बैठ गई है।

विक्रमादित्य : यदि तुम ऐसा समझती हो देवि; तो अभियोगिनी बनकर मेरे सामने क्यों खड़ी हो? यदि यह स्वयं तुम्हारा दोष है तो तुमने राज-मर्यादा की शान्ति में बाधा क्यों डाली? उस दोष के दण्ड सहन करने की शक्ति तुममें होनी चाहिए।

विभावरी : सम्राट्, यदि मैं दण्ड सहन कर लूँगी तो इस दण्ड का द्वार भविष्य में अन्य स्त्रियों के लिए भी खुल जायगा। आज मैं अपमानित हुई हूँ, यदि उसकी सूचना मैं आपके बाहु-बल को न दूँ तो कल दूसरी स्त्री भी अपमानित हो सकती है।

विक्रमादित्य : तुमसे पहले तो कोई स्त्री मेरे राज्य में अपमानित नहीं हुई है।

विभावरी : यह आपके राज्य-शासन का गौरव है, सम्राट् !

विक्रमादित्य : [दृढ़ता से] चुप रहो विभावरी, मैं ऐसे छद्मवेषी शब्द नहीं सुनना चाहता। ये मेरी यंत्रणा को अधिक तीव्र करते हैं। मैं जानना चाहता हूँ, तुम्हारा अभियोग क्या है?

विभावरी : सम्राट्, लज्जा मेरे शब्दों को रोक रही है।

विक्रमादित्य : मुझे आश्चर्य हो रहा है, तुम आर्य-नारी किस प्रकार हो? तुमने इस अपमान पर आज दिन भर रुदन किया, जो आर्य-नारी की मर्यादा के प्रतिकूल है। फिर उस अपमान के कहने में तुम्हें लज्जा हो रही है! आर्य-नारियाँ अपना अपमान ज्वालामय शब्दों

में कहती हैं, लज्जा के स्वरों में नहीं।

विभावरी : मैं बहुत दुखी हूँ सम्राट् !

विक्रमादित्य : तब तो तुम्हें और भी निर्भीक होना चाहिए। भारत की दुखिनी नारी क्रान्ति की ज्वाला है, उसे कोई रोक नहीं सकता। वह उठती है तो सुगन्धिमय धूम की भाँति, और आकाश तक उसकी उदारता फैल जाती है; वह गिरती है तो बिजली की भाँति, और उससे पाताल का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है।

विभावरी : सत्य है, सम्राट् !

विक्रमादित्य : फिर तुमने यह याचना की थी कि तुम्हारा अभियोग न्याय-सभा के बाहरी कक्ष में—एकान्त में—सुना जावे। यह याचना भी तुम्हारी स्वीकार हुई। मैंने अपनी सभा के सदस्यों और मंत्रियों को यहाँ से हटा दिया। इस समय हम लोग एकान्त में हैं। तुम निर्भीक होकर अपना अभियोग मुझे सुना सकती हो।

विभावरी : [हाथ जोड़कर] मैं सम्राट् की कृतज्ञ हूँ।

विक्रमादित्य : कृतज्ञ होने की बात नहीं है। सम्राट् प्रजा का पिता है। यदि आवश्यकता होगी तो मैं इसी स्थल पर तुम्हारे अभियुक्त को दण्ड भी दे सकूँगा।

विभावरी : यह आपकी कृपा है, प्रभो !

विक्रमादित्य : अपना अभियोग स्पष्ट करो। किसमें इतनी शक्ति है जो उज्जयिनी में नारी का अपमान करे ?

विभावरी : सम्राट्, आज प्रातःकाल उषा-वेला में मैं इसी शिप्रा [वातायन की ओर संकेत] के किनारे वायु-विहार के लिए गई थी। वहाँ पुष्पराग उद्यान की सुगन्धि ने मुझे आकर्षित किया और उसमें प्रवेश किया। शीतल समीरण बह रहा था, अनेक भाँति के पुष्प खिले हुए थे......।

विक्रमादित्य : [बीच ही में] मैं इस समय काव्य नहीं सुनना चाहता मैं अभियोग सुनना चाहता हूँ।

विभावरी : क्षमा चाहती हूँ सम्राट्, मैं संक्षेप ही में कहूँगी। पुष्पराग उद्यान में पुष्पों की विविधता देखकर मेरे मन में इच्छा हुई कि मैं सूर्य भगवान् की पूजा के निमित्त कुछ पुष्प चयन कर लूँ। जिस समय मैं पुष्प-चयन कर रही थी उसी समय एक दूसरी स्त्री मेरे समीप आई। उसने प्रेम से मेरी ओर देखकर निवेदन किया "क्या मैं आपकी सहायता कर सकती हूँ ?" उसका प्रेम भाव देखकर मैंने उसकी सहायता स्वीकार कर ली। पुष्प-चयन के उपरान्त उसने मेरी वेणी में पुष्प गूँथने की इच्छा प्रकट की। सम्राट्, सौन्दर्य-प्रिय होने के कारण मैंने यह भी स्वीकार किया। जिस समय मेरी वेणी में वह पुष्प गूँथ रही थी, उस समय मेरे कण्ठ में उसका स्पर्श अस्वाभाविक ज्ञात हुआ !

विक्रमादित्य : [चौंककर] अस्वाभाविक ? [सिंहासन से उतर पड़ते हैं।]

विभावरी : सम्राट्, उसके स्पर्श में मुझे पुरुष-स्पर्श का संकेत मिला।

विक्रमादित्य : [स्तंभित होकर] पुरुष-स्पर्श ? तो क्या वह नारी-वेश में पुरुष था ?

विभावरी : मैं यही सोचती हूँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य : तुमने उसी समय अपने अपमान का प्रतिकार किया ?

विभावरी : सम्राट, मुझे भय था मैं कहीं अधिक अपमानित न हो जाऊँ !

विक्रमादित्य : तुम्हारे पास कोई शस्त्र था ?

विभावरी : हाँ सम्राट्, मेरे पास शस्त्र था। वह अब भी है। देखिए; यह दन्तिका [कटिबन्ध से दन्तिका निकालकर दिखलाती है।]

विक्रमादित्य : तुमने इसका प्रयोग किया ?

विभावरी : सम्राट्, मुझे आपके न्याय में अधिक विश्वास है !

विक्रमादित्य : विभावरी, तुम आर्य-नारी नहीं हो। तुमने अपने कुल को कलंकित किया है। साथ ही मुझे भी, अपने सम्राट् को। तुम इस प्रकार अपमानित हो जाओ और शक-स्त्रियों की भाँति रोने लगो ? तुम्हें अपनी असमर्थता पर लज्जा नहीं आई ? तुम्हारी माता को आत्महत्या करनी चाहिए। तुम्हारे पिता को देश से भाग जाना चाहिए। शक्तिहीना नारी ! भारत के भविष्य की संरक्षिका को अपमान का प्रतिकार करना भी न आया ? [अशान्ति से शीघ्र गति में टहलने लगते हैं।]

विभावरी : सम्राट्, मुझे क्षमा कीजिए। विदिशा में रहनेवाली नारी को अभी उज्जयिनी की नारी से बहुत कुछ सीखना है। आपके व्यक्तित्व के प्रभाव से तो उज्जयिनी की नारी दुर्गा और सरस्वती दोनों ही का रूप धारण कर सकती है।

विक्रमादित्य : [घृणा से] अयोग्य नारी ! इस तिल की ओट में तुम पर्वत को नहीं छिपा सकतीं। यह कारण तुम्हारी असमर्थता की रक्षा नहीं करेगा।

विभावरी : [हाथ जोड़कर] सम्राट्, मैं भी दण्ड की पात्री हूँ।

विक्रमादित्य : निस्सन्देह, नारी-अपमान के लिए मैं अभियुक्त को निर्वासित तो करूँगा ही, साथ ही साथ तुम्हें भी साधना की अग्नि में तपकर सच्ची नारी बनना होगा।

विभावरी : मैं दण्ड सहन करने के लिए प्रस्तुत हूँ, प्रभो !

विक्रमादित्य : और तुम्हारा अभियुक्त कहाँ है ?

विभावरी : मैं उसे पुष्पराग उद्यान की द्वार-रक्षिका से बन्दी कराकर ले आई हूँ। वह इस समय द्वार-रक्षिका के साथ बाहर है। मैं

स्वयं पदाघात कर उसे आपके पवित्र राज्य की सीमा से बाहर करूँगी !

विक्रमादित्य : [अशान्त होकर] उज्जयिनी में कभी ऐसा अभियोग मेरे सामने उपस्थित नहीं हुआ। विभावरी, तुमने आज मुझे यह सोचने के लिए बाध्य किया है कि इतने युद्ध करने के उपरान्त, इतने शत्रुओं को मालवा, सौराष्ट्र और गुर्जर से निर्वासित करने के उपरान्त भी मैं उज्जयिनी की सामाजिक व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ रहा। आज भी उज्जयिनी में नारी अपमानित हो सकती है !

विभावरी : हाँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य : [तीव्र स्वर में] विभावरी !

विभावरी : [विह्वल होकर] सम्राट्, क्षमा हो। जिस नगरी की वाणी ने ही क्षिप्रा का रूप धारण कर लिया हो, वहाँ मेरी वाणी में यदि कुछ भूल हो तो क्षमा कीजिए, किन्तु अपनी आत्मा का चीत्कार मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ, प्रभो ? मैं लांछित हुई हूँ, मेरे आत्म-सम्मान की अवहेलना............

विक्रमादित्य : [रोककर] बस, अब मैं अधिक नहीं सुन सकूँगा। तुम्हारे अभियोग ने मेरे पराक्रम की सहस्र भुजाओं को शक्तिहीन सिद्ध कर दिया है। मैं अब तक अपनी शक्ति का विश्वासी था। आज वह विश्वास तुम्हारे अभियोग में समाप्त हो रहा है। मेरे राज्य में नारी का अपमान हो, यह मेरे लिए अपमान की बात है !

विभावरी : आप सम्राट्-श्रेष्ठ हैं, प्रभो !

विक्रमादित्य : चुप रहो, विभावरी, इन शब्दों से तुम मुझे पीड़ा पहुँचा रही हो। मैंने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था। क्या मेरे इस साहस की भावना पर तुम्हारा अभियोग हँस नहीं रहा है ?

मैं उस विरुद का परित्याग करूँगा। तुमने विक्रम की ऐसी पताका भी कहीं देखी है जो अन्याय और अव्यवस्था के दण्ड में सजी हो? तुम ऐसे सूर्य की कल्पना कर सकती हो जिसकी किरणों से अन्धकार निकलता हो? विक्रमादित्य अन्याय और अव्यवस्था का प्रतीक हो, यह असंभव है, यह असंभव है!

विभावरी : सम्राट् शान्त हों!

विक्रमादित्य : अयोग्य व्यक्ति कभी शान्त नहीं हो सकता। मैं अयोग्य हूँ। कालिदास ने व्यर्थ ही मेरी प्रशंसा की है। मुझे पहिचानने में महाकवि ने भी भूल की।

विभावरी : नहीं प्रभो, मैंने आपको कष्ट पहुँचाने में भूल की है।

विक्रमादित्य : नहीं, मैं विक्रमादित्य नाम का परित्याग करूँगा। मेरे लिए केवल यही मार्ग है, केवल यही। किन्तु इसके पूर्व मैं नारी के सम्मान की पूर्ण व्यवस्था कर जाऊँगा। हाँ, तुम्हारा अपराधी बाहर है? मैं उस नर-पिशाच को देखना चाहता हूँ जो अपने छद्मवेष में नारियों का अपमान करता फिरता है। जो पुरुष होकर अपने पुरुषत्व को नारी के वस्त्रों से छिपाए हुए है। जिसने विक्रमादित्य की सत्ता को विलासियों की शृङ्गार-शाला समझ रखा है। [द्वार के समीप पहुँचकर घण्टे पर चोट करते हैं, फिर लौटकर विभावरी से] तुम्हें मेरे न्याय में अधिक विश्वास है! मैं आज एकाकी न्याय करूँगा। न्याय-सभा का सारा अधिकार मैं अपने बाहु-बल में केन्द्रित कर अपराधी को कठोर दण्ड दूँगा। [प्रहरी का प्रवेश; वह अपना भाला झुकाकर प्रणाम करता है।]

विक्रमादित्य : प्रहरी, बाहर जो बन्दिनी द्वार-रक्षिका के अधिकार में है उसे यहाँ उपस्थित होने की आज्ञा सुनाओ।

प्रहरी : जो आज्ञा। [प्रणाम कर प्रस्थान।]

विक्रमादित्य : [विभावरी से] तुम मेरा न्याय देखना चाहती हो ? किन्तु सुनो विभावरी, मैं ऐसी नारी से घृणा करता हूँ जो अपना सम्मान स्वयं सुरक्षित नहीं रख सकती । नदी पहाड़ से कहे कि तुम मेरे लिए किनारा बना दो, बिजली बादल से कहे कि मुझे तड़पना सिखला दो और नारी राजा से कहे कि मेरा न्याय कर दो । नारी, भारतवर्ष को संसार में लज्जित होने से बचाओ, विदेशियों से पद-दलित होने पर भी देश की मर्यादा सुरक्षित रहने दो ।

[द्वार-रक्षिका का अभियुक्त (आयु २४ वर्ष) के साथ प्रवेश । द्वार-रक्षिका श्वेत वस्त्र धारण किए हुए है । काले रेशम का कटिबन्ध । कबरी में पुष्प-शृंगार और हाथ में शूल । अभियुक्त पाटल रंग का उत्तरीय और नीले रंग का कटिबन्ध पहने है । गले में स्वर्ण-माला । केशों में कुन्द-पुष्प । माथे में स्वस्तिक-तिलक । हाथों में पुष्प-वलय और पैरों में नूपुर धारण किए हुए है । दोनों का अभिवादन । द्वार-रक्षिका अभियुक्त को सामने उपस्थित कर द्वार पर जाकर खड़ी हो जाती है ।]

विक्रमादित्य : [द्वार-रक्षिका से] तुम बाहर मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करो ।

द्वार-रक्षिका : [सिर झुकाकर] जो आज्ञा । [प्रस्थान] ।

विक्रमादित्य : [अभियुक्त को गहरी दृष्टि से देखकर विभावरी से] यही तुम्हारा अभियुक्त है ?

विभावरी : [उद्वेग से] सम्राट, यही अभियुक्त है । इसी ने मेरा अपमान किया है, यही वह दुष्ट है, यही वह छद्मवेशी है जिसने......

विक्रमादित्य : [हाथ बढ़ाकर] रुको विभावरी, तुम मेरे न्यायकक्ष में हो । [अभियुक्त से] अभियुक्त, तुम विक्रमादित्य की परीक्षा लेना चाहते हो कि वह अपनी व्यवस्था में सतर्क है या नहीं ? छद्मवेशी

अभियुक्त, तुम नारी वेश में पुरुषत्व का अपमान और नारीत्व की अवहेलना करनेवाले कौन हो ?

अभियुक्त : [हिचकते हुए] सम्राट् !

विक्रमादित्य : [तीव्रता से] तुम्हारा नाम क्या है ?

अभियुक्त : [रुकते हुए शब्दों में] सम्राट मैं...मैं......पुरुष हूँ ।

विक्रमादित्य : मैं जानता हूं कि तुम पुरुष हो, पुरुषत्व को लज्जित करनेवाले पुरुष ! तुम्हारा नाम क्या है ? विक्रमादित्य के सामने तुम असत्य भाषण नहीं कर सकोगे । मेरे अधिकार में अग्नि है, [तलवार पर हाथ रखकर] 'अपराजित' की तीक्ष्ण धार है और वधिक का तीक्ष्ण कृपाण ! सत्य और धर्म के सोपान पर सुसज्जित पवित्र न्याय के सामने अपने नाम के अक्षर दुहराओ !

अभियुक्त : [विह्वल होकर] सम्राट......सम्राट ....मुझे क्षमा करें......मैं......स्त्री हूं !

विक्रमादित्य : तुम स्त्री हो ? यह तो सभी देखनेवाले जान सकते हैं, किन्तु मैं तुम्हारे पुरुषत्व की परिभाषा जानना चाहता हूं ।

अभियुक्त : सम्राट, मैं स्त्री हूं । मेरा नाम पुष्पिका है ।

विभावरी : [तीव्रता से] सम्राट, यह झूठ बोलता है, इसका यह नाम नहीं है ।

विक्रमादित्य : [मुसकरा कर] नाम तो बहुत सुन्दर है, किन्तु तुम्हारा वास्तविक नाम क्या है ? तुम विक्रमादित्य के न्याय के सामने हो, असत्य भाषण नहीं करोगे !

अभियुक्त : सम्राट, मैं क्या कहूँ मेरी समझ में नहीं आता......हाँ, मैं पुरुष हूँ !

विक्रमादित्य : दण्ड के भय से उद्भ्रान्त मत बनो अभियुक्त ! भगवान् महाकालेश्वर की आन पर तुम असत्य भाषण नहीं करोगे ।

अभियुक्त : सम्राट के सामने यह साहस किसी का नहीं हो सकता।

विक्रमादित्य : अभियोग कहता है कि तुम पुरुष हो। तुमने विभावरी का अपमान किया है। क्या यह सत्य है?

अभियुक्त : हाँ सम्राट्, यह सत्य है। [रुककर] नहीं-नहीं, यह सत्य नहीं है।

विक्रमादित्य : [तीक्ष्णता से] स्थिर रहो अभियुक्त! तुम कहाँ के निवासी हो?

अभियुक्त : सम्राट्, मैं उज्जयिनी में निवास करती हूँ।

विक्रमादित्य : [दृढ़ता से] तो तुम स्त्री हो? अभियुक्त, असत्य भाषण करने पर कठोर दण्ड मिलेगा। अपनी वास्तविकता स्वीकार करो।

अभियुक्त : सम्राट्, मेरा नाम पुष्पिका है। मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूँ।

विक्रमादित्य : इसका प्रमाण?

अभियुक्त : मैं सम्राट् के राज्यारोहण के समय उपस्थित थी। उस समय सम्राट् ने उज्जयिनी की प्रत्येक नारी को जो स्वर्ण-मुद्राएँ दी थीं वे मेरे कण्ठहार में अब तक सुसज्जित हैं। देखिए। [अपना कण्ठहार दिखलाती है]

विक्रमादित्य : किन्तु, वे मुद्राएँ तुम्हारे द्वारा चुराई भी तो जा सकती हैं!

अभियुक्त : सम्राट् उज्जयिनी की प्रत्येक नारी आपकी मुद्रा को गौरव का चिह्न समझती है। वह उसे चोरी नहीं होने दे सकती और सम्राट्, उज्जयिनी में चोरों का निवास नहीं है।

विक्रमादित्य : मैं यह बात सुनकर प्रसन्न हूँ, किन्तु तुम पर अभियोग है कि तुम पुरुष हो। क्या तुम पुरुष हो?

अभियुक्त : [दृढ़ता से] सम्राट्, मैं पुरुष नहीं हूँ। [विभावरी क्रोध

से काँप जाती है]

विक्रमादित्य : विभावरी, तुम काँप उठीं, इतना क्रोध करने की आवश्यकता नहीं है। मैं अभी निर्णय करता हूँ। [अभियुक्त से] अभियुक्त क्या मैं प्रहरी को आज्ञा दूँ कि वह तुम्हारा वेश-विन्यास परिवर्तित करे ?

अभियुक्त : सम्राट्, उज्जयिनी की नारी को प्रहरी द्वारा अपमानित होने से रोकने की कृपा कीजिए।

विक्रमादित्य : क्या तुम पुरुष नहीं हो अभियुक्त ?

अभियुक्त : नहीं सम्राट, मैं वचन दे चुकी हूँ कि अपने सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं करूँगी।

विक्रमादित्य : [विभावरी से] विभावरी, क्या तुम्हारे कहने से अभियुक्त स्वीकार करेगा कि वह पुरुष है ?

विभावरी : [अभियुक्त की ओर दृढ़ता से देखकर] अभियुक्त, तुम पुरुष हो, तुम्हारे स्पर्श में नारी का भाव नहीं था। तुमने मुझसे स्वीकार किया था कि तुम सम्राट् के सामने अपना पुरुषत्व स्वीकार करोगे। मेरी लज्जा के लिए स्वीकार करो, अपने वचन की पूर्ति के लिए स्वीकार करो। [अभियुक्त मौन है।] देखो, अभियुक्त तुम चुप क्यों हो ? तुम स्वीकार क्यों नहीं करते ?

विक्रमादित्य : [विभावरी से] तुम्हारा कथन भी रहस्यपूर्ण है, विभावरी।

विभावरी : कोई रहस्य नहीं, सम्राट्। [अभियुक्त से] अभियुक्त ! मैं निश्चयपूर्वक कहती हूँ कि तुम पुरुष हो। मेरी ओर देखकर कहो कि मैं पुरुष हूँ।

अभियुक्त : [विभावरी की ओर देखकर] अच्छा, तो मैं पुरुष हूँ !

विक्रमादित्य : [क्रुद्ध होकर 'अपराजित' म्यान से निकालकर] सावधान,

तुम सत्य से खिलवाड़ कर रहे हो अभियुक्त ! राज-मर्यादा का अपमान करने के कारण तुम्हें कठोर दण्ड दिया जायगा। ज्वाला-मुखी के मुख पर बैठकर तुम अंजुलि के जल से अपनी रक्षा करना चाहते हो ! [जोर से] प्रहरी !

अभियुक्त : [घुटने टेककर] सम्राट्, क्षमा करें। मैं अपराधिनी हूँ। मैं आपकी करुणा का दान चाहती हूँ। [प्रहरी का प्रवेश; वह प्रणाम क ता है।]

विक्रमादित्य : [अभियुक्त से] तो तुम पुरुष नहीं हो ? अभी विभावरी की ओर देखकर तुमने कहा कि मैं पुरुष हूँ।

अभियुक्त : मैं स्त्री हूँ। अपने सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं कर सकती।

विक्रमादित्य : इसमें कुछ रहस्य है ! अच्छा, तुम स्त्री ही सही ! [अकस्मात् दूसरी ओर नेपथ्य में देखकर] ओह......इतना भयानक सर्प.......[प्रहरी उस ओर दौड़ता है। अभियुक्त भागकर सिंहासन के पीछे छिप जाता है।]

विक्रमादित्य : अभियुक्त वास्तव में स्त्री है। सर्प न होते हुए भी सर्प के नाम से वह विचलित हो गई। पुरुषों का यह लक्षण नहीं है। [विभावरी की ओर देखकर] तुम विचलित नहीं हुई, विभावरी ? [खड्ग म्यान में रखते हुए]

विभावरी : मैं साहसी हूँ सम्राट् !

अभियुक्त : [आगे बढ़कर] सम्राट् क्षमा दान करें। विभावरी पुरुष है !

विक्रमादित्य : ओह, यह रहस्य है ! मैं भी अनुमान करता हूँ, विभावरी पुरुष है !

विभावरी : पुष्पिके, तुमने विश्वासघात किया ! [अभियुक्त की

और दृष्टि ।]

पुष्पिका : क्षमा हो राजकुमार, प्रयत्न करने पर भी मैं सम्राट् के सामने असत्य भाषण नहीं कर सकी ।

विक्रमादित्य : [साश्चर्य] राजकुमार ।

पुष्पिका : सम्राट्, मैं क्षमा की भिक्षा माँगते हुए निवेदन करती हूँ कि यह विभावरी शक राजकुमार क्षत्रप भूमक है ।

विक्रमादित्य : [आश्चर्य और क्रोध से] शक राजकुमार भूमक ! [तलवार पर हाथ रखते हुए] बोलो राजकुमार भूमक, तुम सौराष्ट्र के युद्ध में कहाँ रहे ? क्या इसी वेश में विदिशा की नारियों के बीच छिपे हुए थे ? तुम विभावरी हो ! क्यों कायर राजकुमार ? तुम्हें अपनी माता का स्तन्य लज्जित करते हुए संकोच नहीं हुआ ? स्त्री-वेश में तुम्हें अपने पुरुषत्व को कलंकित करते हुए क्षोभ नहीं हुआ ? और फिर तुम्हीं अभियोग लाए थे ? स्वयं अपराधी होते हुए अभियोग लगाने का साहस । राज-मर्यादा में तुम्हें असत्य का अभिनय आत्म-हत्या करने से अच्छा ज्ञात हुआ ? कायरता की प्रतिमूर्ति राजकुमार भूमक !

भूमक : मैं कायर नहीं हूँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य : तुम कायर नहीं हो, तुम इतने तुच्छ हो कि तुम्हें आर्य-नारी बनने की योग्यता भी नहीं आई ! आर्य-नारी ने रोदन किया ! उसके कण्ठ की विकृति हुई ! अपना पुरुष-स्वर छिपाने के लिए कण्ठ की विकृति ! उसने अपमान सहा, शस्त्र का प्रयोग नहीं किया, वह सम्मान के प्रतिशोध में सम्राट् के सामने अभियोगिनी बनी और उसे अभियोग के स्पष्ट करने में लज्जा हुई ! ये सब क्या आर्य-नारियों के लक्षण हैं ? मुझे पहले ही सन्देह होने लगा था । शकों में आर्य-नारियों का धर्म पहिचानने की क्षमता कहाँ ? तुम शक

राजकुमार भूमक हो, तुम इन सब बातों को क्या समझो, तुम तो केवल स्त्री-वेश धारण करना जानते हो !

भूमक : सम्राट्, आप मेरा अपमान न कीजिए। स्त्री-वेश मैंने अपनी इच्छा से धारण किया। मैं कायर नहीं हूँ। यदि आपकी इच्छा युद्ध करने की हो तो मेरे लिए भी एक तलवार लाने की आज्ञा दीजिए। मैं जानता हूँ कि मैं आप पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु शक राजकुमार मरने से भी नहीं डरता।

विक्रमादित्य : [मुस्कराकर] मैं यह सुनकर प्रसन्न हूँ। [घण्टे पर चोट करते हैं।] किन्तु विभावरी और भूमक में क्या अन्तर है, यह मैं जानना चाहता हूँ ? यह सब काण्ड रहस्य के रूप में मेरे सामने क्यों उपस्थित किया गया ? स्त्री और पुरुष, फिर पुरुष और स्त्री ! मेरे राज्य में इस इन्द्रजाल के लिए स्थान नहीं है !

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी : [प्रणाम कर] सम्राट्, कोई सर्प नहीं दीख पड़ा !

विक्रमादित्य : यह मैं जानता हूँ। [विभावरी की ओर संकेत करते हुए] इस स्त्री को शस्त्रागार में ले जाकर इसे सैनिक का वस्त्र-विन्यास दो और साथ ही इसकी रुचि के अनुसार एक तलवार भी।

प्रहरी : जो आज्ञा।

विक्रमादित्य : स्त्री-वेश में मेरे समक्ष तुम अपने पुरुषत्व को अधिक देर तक लज्जित मत करो, क्षत्रप-राजकुमार।

[भूमक का सैनिक के साथ प्रस्थान]

विक्रमादित्य : [घूमकर पुष्पिका से] पुष्पिके, जो पुरुष था वह स्त्री-रूप में आया और जिसमें पुरुष की कल्पना थी वह स्त्री ही निकली। यह सब मेरे सामने किस षड्यंत्र का रूप है ?

पुष्पिका : सम्राट् क्षमा करें। यह मेरी व्यक्तिगत जीवन-कथा है।

परिस्थिति-वश मुझे यह कार्य करना पड़ा। मैं लाचार थी !

विक्रमादित्य : तो तुम इस घटना-चक्र की प्रधान पात्री हो ?

पुष्पिका : नहीं सम्राट्, मैं प्रधान पात्री नहीं हूँ।

विक्रमादित्य : तुम प्रधान पात्री नहीं हो ? तुमने यह क्यों कहा कि मैं पुरुष हूँ।

पुष्पिका : उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए, सम्राट् !

विक्रमादित्य : उपकार-ऋण ? किसके उपकार-ऋण से मुक्त होने के लिए ?

पुष्पिका : राजकुमार भूमक ने मेरे प्रति उपकार किया था।

विक्रमादित्य : कैसा उपकार ?

पुष्पिका : सम्राट्, मैं उज्जयिनी की निवासिनी हूँ। दो वर्ष पूर्व मैं एक कार्य से गुर्जर चली गई थी। अकस्मात् शकों ने गुर्जर पर आक्रमण किया। दुर्भाग्य से मैं भी शकों के हाथों में पड़ गई। जब अन्य बन्दियों के साथ मैं वध-स्थान को ले जाई जा रही थी, उस समय एकाएक इस शक राजकुमार ने आकर मेरी रक्षा की और मुझे स्वतंत्र किया !

विक्रमादित्य : तुम पर ही यह कृपा क्यों की ?

पुष्पिका : मैं नहीं जानती, सम्राट् !

विक्रमादित्य : संभवतः तुम्हारे सौन्दर्य के आकर्षण ने उससे यह कार्य कराया हो।

पुष्पिका : जो भी हो, सम्राट् ! किन्तु उसने मेरे आत्म-सम्मान पर आँच नहीं आने दी और साथ ही मुझे जीवन-दान दिया ! सम्राट्, मुझे इतने बड़े उपकार का बदला देना था।

विक्रमादित्य : तो क्या उपकार का बदला तुम अन्याय रूप से देतीं ?

पुष्पिका : क्षमा कीजिए, सम्राट् ! राजकुमार भूमक ने इसी बात की

याचना की थी।

विक्रमादित्य : और इस क्षत्रिय राजकुमार ने स्त्री-वेश क्यों धारण किया ?

पुष्पिका : सम्राट्, जब आपने मालवा, गुर्जर और सौराष्ट्र से शकों को निर्वासित किया तो मेरे ऊपर अनुग्रह रखनेवाले क्षत्रप को गुर्जर छोड़ने में कष्ट हुआ। उसने गुर्जर ही में रहना निश्चय किया, किन्तु पुरुष-वेष में रहना उसके जीवन के लिए संकट का कारण होता, इसलिए उसने स्त्री-वेश रखकर रहने में ही अपनी कुशल समझी।

विक्रमादित्य : फिर वह गुर्जर ही में क्यों नहीं रहा ?

पुष्पिका : सम्राट्, दुर्भाग्य से गुर्जर में लोगों की सन्देह-दृष्टि उस पर पड़ ही गई। इस समय मुझे उज्जयिनी भी आना था। तो उसने मुझसे प्रार्थना की कि वह भी मेरे साथ उज्जयिनी चले। मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।

विक्रमादित्य : क्या तुम उससे प्रेम करती हो ?

पुष्पिका : सम्राट्, उपकार का बदला देना प्रेम करना नहीं कहा जा सकता।

विक्रमादित्य : क्या वह तुमसे प्रेम करता है ?

पुष्पिका : मैं कह नहीं सकती, सम्राट्! किन्तु इस प्रकार के व्यवहार की मैंने सदैव अवहेलना की है। इस समय अधिक से अधिक वह मेरा भाई कहा जा सकता है।

विक्रमादित्य : यह सुनकर मैं प्रसन्न हूँ, किन्तु छद्मवेश रखने का अपराध करके भी उस राजकुमार को उज्जयिनी में आते हुए भय नहीं हुआ ?

पुष्पिका : उसे मेरे आश्रय का सबसे बड़ा बल था, सम्राट्! वह समझता था कि मैं उसकी पूर्ण रक्षा कर सकूँगी।

विक्रमादित्य : तो तुम राज्य के समक्ष अपराधिनी होते हुए भी उसकी रक्षा नहीं कर सकीं ?

पुष्पिका : आप रक्षा कर सकते हैं, सम्राट् !

विक्रमादित्य : तुम जानती हो पुष्पिके, शकों को मैं एक ही दण्ड दिया करता हूँ और वह है प्राणदण्ड। किन्तु खेद है कि युद्ध में इस क्षत्रप ने मेरा सामना नहीं किया। फिर भी इससे उसके दण्ड की व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। अभी एक बात तुम्हें और स्पष्ट करनी है। वह यह कि स्वयं छद्मवेश में उपस्थित होकर और तुम पर अभियोग लाकर उसने अपने किस कार्य की पूर्ति करनी चाही ?

पुष्पिका : सम्राट्, कुछ ही दिनों में यहाँ उसे आपके आतंक और मर्यादापूर्ण शासन का ज्ञान हो गया। उसे भय था कि वह किसी दिन भी न्याय-सभा के सामने उपस्थित कर दिया जायगा। अतः उसे उज्जयिनी की प्रत्येक दिशा में सम्राट् विक्रमादित्य की कृपाण दीख पड़ने लगी। उसने निश्चय किया कि वह शीघ्र ही कपिशा चला जावेगा, किन्तु मार्ग में उसे प्राणों का भय था, इसलिए उसने सैनिकों के संरक्षण में जाना ही सूचित समझा। इसी बात के लिए उसे इस अभियोग की कल्पना करनी पड़ी।

विक्रमादित्य [सिर हिलाकर] ठीक !

पुष्पिका : और सम्राट्, राज्य का यह नियम तो आपने निर्धारित कर दिया है कि नारी के अपमान का दण्ड देश-निर्वासन है। मैं उस दण्ड के अनुसार निर्वासित होती; क्योंकि मैं स्वीकार करती कि मैं पुरुष हूँ। मेरे दण्डित होने पर वह विभावरी-रूप में आपसे यह प्रार्थना भी करता कि वह स्वयं पदाघात कर मुझे राज्य की सीमा से वाहर करता। इसलिए वह भी मेरे साथ ही साथ सैनिकों के

संरक्षण में सीमा तक पहुँच जाता और सीमा पर पहुँचकर वह आपके राज्य से निकल भागता।

विक्रमादित्य : यह रहस्य है!

पुष्पिका : यही कारण है कि उसने मेरी आँखों में आँखें डालकर मुझसे अनुरोध किया था कि मैं आपके सामने यह स्वीकार कर लूँ कि मैं पुरुष हूँ।

विक्रमादित्य : किन्तु, इससे अच्छा क्या यह न होता कि वह स्वयं किसी स्त्री को अपमानित कर निर्वासन का दण्ड प्राप्त करता?

पुष्पिका : सत्य है सम्राट, किन्तु आपसे प्राण-दान पाकर भी उसे भय था कि वह मार्ग ही में किसी सैनिक द्वारा न मार दिया जाय!

विक्रमादित्य : तो इस अभियोग में तुम तो निर्वासित हो ही जातीं।

पुष्पिका : सम्राट्, एक उपकारी के लिए मैं यह भी करती, किन्तु बाद में मैं पुनः उज्जयिनी लौट आती, आपकी मुद्राओं से सुसज्जित अपना कण्ठहार दिखला कर।

विक्रमादित्य : तो तुमने अपराधी को छिपाकर और उसकी कूटनीति में भाग लेकर राजद्रोह किया है। तुम दण्ड की अधिकारिणी हो।

पुष्पिका : सम्राट, मैं दण्डित होने को प्रस्तुत हूँ, किन्तु अपने ऊपर अनन्त उपकार करनेवाले शक राजकुमार की केवल एक इच्छा की पूर्ति करना मैंने अपना परम धर्म समझा।

विक्रमादित्य : किन्तु, तुम जानती हो कि शकों और आर्यों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? शकों ने आर्यों पर कितने अत्याचार किए हैं? उन्होंने ब्राह्मणों का वध किया है। उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म को जड़मूल से उखाड़ने की चेष्टा की है। क्या शाहानुशाही क्षत्रपों के शासन से तुम अपरिचित हो?

पुष्पिका : नहीं सम्राट्, मुझे शकों के अत्याचार की कथा ज्ञात है, किन्तु

शक राजकुमार भूमक बहुत दयावान् है। वह कोमल-हृदय है, वह न्यायी है; अन्यथा वह मुझे मुक्त क्यों करता ? वह मेरे सम्मान की रक्षा क्यों करता ? वह जाति से शक है, किन्तु अपने विश्वास से वह पूर्ण आर्य है। जैन धर्म में उसका पूर्ण विश्वास है। वह हिंसा का विरोधी है, वह शक होकर भी शाकाहारी है।

विक्रमादित्य : तुम इस वक्तव्य से उसे निरपराध सिद्ध नहीं कर सकतीं। यदि आर्य-नारी की रक्षा करने के कारण उसे क्षमा भी कर दूँ तो कपटपूर्ण अभियोग के लिए उसे दण्डित तो करूँगा ही और साथ ही तुम्हें भी।

पुष्पिका : सम्राट्, मुझे दण्ड दीजिए, किन्तु मुझ पर उपकार करनेवाले क्षत्रप-राजकुमार को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य : वह शक-क्षत्रप होने के कारण ही दण्ड का अधिकारी है। शासन का न्याय शक-क्षत्रप को शक्तिशाली नहीं रहने देगा। शकों ने जिस प्रकार आर्य-संस्कृति को कुचलने की चेष्टा की है उसके लिए उन्हें अनेक परम्पराओं तक प्रायश्चित की अग्नि में जलना होगा। फिर विक्रमादित्य के सामने आर्य-धर्म का विद्रोही संसार का सबसे बड़ा अपराधी है।

पुष्पिका : क्या राजकुमार किसी भाँति भी क्षमा नहीं किया जा सकेगा ?

विक्रमादित्य : मैं उसे क्षमा भी कर सकता हूँ, किन्तु केवल एक बात पर और वह यह कि वह आर्य-धर्म स्वीकार करे और सारे देश में उसका प्रचार करे। क्या वह यह प्रायश्चित्त स्वीकार करेगा ?

पुष्पिका : सम्राट्, मुझे आशा नहीं है।

विक्रमादित्य : तब वह अवश्य दण्डित होगा। उसने राजधर्म की अवहेलना की है। उसने राज्य के प्रति षड्यंत्र किया है, उसने एक

झूठे अभियोग से अपनी मुक्ति की कुटिल युक्ति सोची है।

पुष्पिका : [शिथिल होकर] सम्राट् की जो इच्छा !

विक्रमादित्य : और सुनो पुष्पिके, तुम्हारे दण्ड की भी व्यवस्था है। यद्यपि सत्य बोलकर और राजधर्म की मर्यादा मानकर तुमने अपने अपराध की गुरुता कम कर ली है फिर भी तुम्हें शक क्षत्रप के साथ गुप्त अभिसन्धि करने के कारण दो मास के कारावास का दण्ड मिलेगा।

पुष्पिका : सम्राट्, मेरे कारावास का दण्ड बढ़ा दीजिए, किन्तु मेरे उपकारी क्षपत्र को क्षमा कर दीजिए।

विक्रमादित्य : यह असंभव है। राजनीति स्त्रियों की विनय-शीलता से तरल नहीं हुआ करती। [प्रहरी के साथ भूमक सैनिक-वेश में आता है। उसके हाथ में तलवार है। वह एक सुन्दर शरीर का युवक दृष्टिगत होता है।]

विक्रमादित्य : [प्रहरी से] प्रहरी, तुम यहीं द्वार पर बाहर रहो, तुम्हारी आवश्यकता पड़ेगी !

प्रहरी : [सिर झुकाकर] जो आज्ञा। [प्रस्थान]

विक्रमादित्य : [भूमक से] आओ क्षत्रप राजकुमार भूमक, मैं तुम्हारी गुप्त अभिसन्धि की सब बातें जान चुका हूँ। तुमने राज-मर्यादा का अपमान भी किया है। कपटपूर्ण अभियोग लाकर तुमने न्याय को धोखा देने की चेष्टा भी की है। तुम कुछ और कहना चाहते हो ?

भूमक : जब उज्जयिनी की नारी ने भी मेरे साथ विश्वासघात किया तब मुझे और कुछ नहीं कहना।

विक्रमादित्य : तुम इसे विश्वासघात क्यों कहते हो, क्षत्रप ? यदि उसने तुम्हारे पवित्र विश्वास की अवहेलना की होती तो वह निश्चय ही विश्वासघातिनी होती किन्तु उसने सत्यासत्य का निर्णय करते हुए

पवित्र राजधर्म की मर्यादा रखी। क्या इस आचरण के लिए तुम उसकी सराहना नहीं करोगे ?

भूमक : सम्राट्, मैंने स्वयं अपने दल के सैनिकों से उसकी रक्षा की थी। मैं चाहता था कि वह भी आर्य-सम्राट् से मेरी रक्षा करती।

विक्रमादित्य : तो तुम उपकार का प्रतिदान चाहते हो ?

भूमक : नहीं, संकटकाल में केवल आत्म-रक्षा और कुछ नहीं।

विक्रमादित्य : किन्तु यह आत्म-रक्षा कपटपूर्ण अभियोग से नहीं हो सकती। तुम द्वन्द्व के लिए प्रस्तुत होकर आए हो ? [तलवार हाथ में तोलते हैं।]

भूमक : मैं प्रस्तुत होकर आया हूँ, सम्राट्! [तलवार हाथ में सँभालता है।]

विक्रमादित्य : किन्तु तुम्हें युद्ध-दान नहीं मिलेगा।

भूमक : मैं कारण जानना चाहता हूँ।

विक्रमादित्य : कारण यह है कि स्त्री-वेश धारण कर लेने वाले व्यक्ति मेरे द्वन्द्व के योग्य नहीं रह जाते। मेरे सामने विभावरी का रूप है, मैं उस पर कृपाण नहीं रख सकूँगा। तुम्हारे लिए वधिक का कृपाण हो सकता है। विक्रमादित्य का 'अपराजित' नहीं। तुम तलवार पृथ्वी पर रख दो।

भूमक : किन्तु मैं द्वन्द्व चाहता हूँ।

विक्रमादित्य : [तीव्र स्वर में] तुम न्याय-सभा के सामने हो, क्षत्रप !

भूमक : [लज्जा और क्रोध से तलवार फेंक देता है।]

विक्रमादित्य : न्याय की आज्ञा पालन करने के कारण मैं प्रसन्न हुआ। भूमक, तुमने स्त्री-वेश धारण कर राज्य-दृष्टि के प्रति छल किया। झूठा अभियोग लाकर तुमने राज-मर्यादा का अपमान किया, इसलिए तुम कठोर दण्ड के पात्र हो। किन्तु भूमक, किसी समय तुमने एक आर्य-

नारी की प्राण-रक्षा की थी इस कारण तुम्हें आंशिक रूप से क्षमा भी दी जा सकती है, यदि तुम राज्य के नियम के अनुसार प्रायश्चित करो। तुम्हें प्रायश्चित करना स्वीकार है?

भूमक : मुझे किसी प्रकार का भी प्रायश्चित करना स्वीकार नहीं है।

विक्रमादित्य : फिर झूठे अभियोग के लिए दण्ड निश्चित है।

भूमक : जो आपके समक्ष झूठा अभियोग है, वह मेरे समक्ष मेरी राजनीति है।

विक्रमादित्य : किन्तु मैं तुम्हें अपनी राजनीति से दण्ड दे रहा हूँ। सम्राट् के साथ कपट करने का दण्ड तुम जानते हो, भूमक?

भूमक : सम्राट्, मैंने कभी जानने की इच्छा नहीं की।

विक्रमादित्य : तो अब जान लो। तुम्हारे दोनों हाथ काट लिए जावेंगे।

पुष्पिका : [शीघ्रता से घुटने टेककर] क्षमा सम्राट्, क्षमा।

विक्रमादित्य : उठो पुष्पिके, उठो, तुम पहले से ही दण्डित हो। अब तुम्हें कुछ कहने का अधिकार नहीं है। [भूमक से] और भूमक, तुम्हारे दण्ड की व्यवस्था मैं इसी समय करूँगा।

[पुष्पिका उठती है।]

भूमक : सम्राट्, मैं सब समय प्रस्तुत हूँ।

[विक्रमादित्य घण्टे पर चोट करते हैं।]

विक्रमादित्य : भूमक, मुझे केवल दुःख यही है कि तुम्हारे हाथों के न रहने से मैं कभी तुम्हारा युद्ध-कौशल न देख सकूँगा, किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं। हाँ, अपने शेष जीवन में तुम यह प्रयत्न करना कि अगले जन्म में तुम्हारे दोनों हाथ जीवन भर काम दे सकें।

[प्रहरी का प्रवेश।]

विक्रमादित्य : [प्रहरी से] प्रहरी, वधिक को शीघ्र यहाँ आने की आज्ञा सुनाओ। आज फिर भगवान् ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर को रक्त का अभिषेक होगा।

प्रहरी : [सिर झुकाकर] जो आज्ञा।

विक्रमादित्य : पुष्पिके, अपने उपकारी के प्रति जो कुछ भी श्रद्धावाक्य कहना है मेरे सामने ही कह लो। मुझे खेद है कि तुम्हारी क्षमा-प्रार्थना मुझे अस्वीकार करनी पड़ी। किन्तु शासन का न्याय सर्वोपरि है। वह शकों के सम्बन्ध में क्रूर है और अपराधियों के सम्बन्ध में दृढ़! वह तुम्हें अन्याय के समर्थन की आज्ञा नहीं देगा और [भूमक से] राजकुमार भूमक, मुझे खेद है कि तुम यहाँ एकाकी आए। यदि तुम्हारे कुछ साथी और होते तो पारस्परिक सहानुभूति में तुम लोगों का दुःख कुछ कम होता।

भूमक : सम्राट्, मुझे अपने दुर्भाग्य की चिन्ता नहीं है।

विक्रमादित्य : ठीक है, तुम्हें सन्तोष होगा कि अब हाथों से रहित होने पर तुम कपट करने के पाप से बचे रहोगे।

भूमक : यदि राजनीति ही कपट हो तो मैं उसमें पाप नहीं समझता। फिर भी, मैं अपमानित होकर जीवित नहीं रहना चाहता। आप वधिक को आज्ञा दें कि वह हाथों के बदले मेरा सिर काट दे।

विक्रमादित्य : नहीं, यह आज्ञा नहीं दी जा सकती, विक्रमादित्य द्वन्द्व और रण-स्थल के अतिरिक्त किसी अन्य-स्थल पर प्राणदण्ड नहीं देता। मैं केवल तुम्हारे हाथ काटने की आज्ञा दे सकूँगा। फिर तुम्हारे खण्डित शरीर से अन्याय रोकने में भी सहायता मिल सकेगी। तुम दण्ड के प्रतीक बनकर इस प्रकार की न्याय-सभा करने के अवसर कम आने दोगे।

[वधिक का प्रवेश। अर्ध-नग्न, भयानक शरीर। कमर में जाँघिया

हाथों में कड़े। बाल खुले हुए। माथे पर त्रिपुण्ड, और हाथ में कृपाण। वह आकर प्रणाम करता है।

विक्रमादित्य : वधिक, तुम्हारे सामने यह शक अपराधी है। न्याय की आज्ञा है कि तुम इसके दोनों हाथ काट दो।

पुष्पिका : [आगे बढ़कर, हाथ जोड़कर] सम्राट् यदि आप राजकुमार को क्षमा नहीं करते तो मेरे भी दोनों हाथों के काटे जाने की आज्ञा दीजिए। अपने ऊपर उपकार करनेवाले को दण्डित होता हुआ देखकर मेरी आत्मा मेरा तिरस्कार कर रही है। सम्राट्, मेरी प्रार्थना है!

विक्रमादित्य : [तीक्ष्ण स्वर में] अपने स्थान पर ही रहो पुष्पिके! तुम्हारा न्याय हो चुका है। न्याय के आदेश में परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं है, जब तक कि अपराधी राज-विधान के अनुसार प्रायश्चित न करे। मैं अपनी ओर से एक बार फिर अवसर दे सकता हूँ क्षत्रप, तुम प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हो?

भूमक : [दृढ़ता से] नहीं।

विक्रमादित्य : [वधिक से] वधिक, तुम अपना कार्य करो।

वधिक : [भूमक से] अपराधी, घुटने टेको।

[भूमक घुटने टेकता है]

वधिक : दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाओ।

[भूमक दोनों हाथ जोड़कर आगे बढ़ाता है।]

विक्रमादित्य : शक राजकुमार, इन हाथों से एक बार भगवान् ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर को प्रणाम करो, फिर प्रणाम करनेवाले ये हाथ नहीं रहेंगे।

भूमक : सम्राट्, क्षमा करें, मैंने तीर्थंकरों और शक-सम्राटों के अतिरिक्त किसी को प्रणाम नहीं किया।

विक्रमादित्य : अब उन्हें दूसरे जन्म में प्रणाम करना। राजकुमार अब तुम प्रस्तुत हो ?

भमक : मैं प्रस्तुत हूँ, सम्राट् !

विक्रमादित्य : [वधिक से] वधिक, अब तुम भी प्रस्तुत हो जाओ।

वधिक : जो आज्ञा। [वह अपना कृपाण उठाता है]

विक्रमादित्य : तुम और कुछ कहना चाहते हो, क्षत्रप ?

भूमक : कुछ नहीं सम्राट् ! मैं केवल यही दुःख लेकर संसार में रहूँगा कि विक्रमादित्य सम्राट्, माँगने पर भी मुझे मृत्यु नहीं दे सके। मुझे एक दुःख और रहेगा कि अब हाथों के न रहने से मैं अपने सम्मान की रक्षा न कर सकूँगा।

पुष्पिका : [गहरी साँस लेकर] और समय पड़ने पर इन हाथों से किसी नारी की रक्षा भी नहीं हो सकेगी।

विक्रमादित्य : दो दुःख तुम्हारे और एक दुःख पुष्पिका का। तीन दुःख हुए। मैं इसके लिए आर्य-धर्म के तीन स्मारक बनवाऊँगा। और कुछ ? [कुछ रुककर] कुछ नहीं ? [वधिक से] वधिक, महाकालेश्वर का अभिषेक हो।

[वधिक तलवार उठाकर वार करता है। पुष्पिका शीघ्रता से आगे बढ़ आती है और उसके माथे में चोट लग जाती है। वह गिर पड़ती है। विक्रमादित्य शीघ्रता से बढ़कर उसके समीप पहुँचते हैं।]

विक्रमादित्य : [वधिक से] वधिक, ठहरो। [वधिक सहमकर पीछे हट जाता है।] [गहरी साँस लेकर पुष्पिका से] पुष्पिके, यह तुमने क्या किया ?

पुष्पिका : [टूटे स्वर से] अपने उपकारी की रक्षा सम्राट् !

भूमक : [उठकर] सम्राट्, मैं प्रायश्चित करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य : [उठकर] क्षत्रप, यदि तुम पहले ही प्रायश्चित करने

के लिए प्रस्तुत हो जाते तो पुष्पिका को चोट नहीं लगती।

भूमक : सम्राट्, मुझे आपके शासन में उज्जयिनी की नारी की महानता ज्ञात नहीं थी। मैं यह नहीं जानता था कि आपने अपने शासन का आदर्श इतना ऊँचा रखा है, जिसमें नारियाँ उपकार का बदला देने के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग तक कर सकती हैं।

विक्रमादित्य : तो तुम प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत हो?

भूमक : हाँ सम्राट् मैं प्रस्तुत हूँ।

विक्रमादित्य : [वधिक से] वधिक तुम जा सकते हो।

[वधिक का सिर झुकाकर प्रस्थान।]

विक्रमादित्य : [भूमक से] भूमक, मुझे प्रसन्नता है कि तुम प्रायश्चित करने के लिए तैयार हो। प्रायश्चित की पहली व्यवस्था यह है कि तुम पुष्पिका को अपनी बहन समझकर—यदि वह जीवित रही तो उसकी शुश्रूषा का भार लोगे। स्वीकार है?

भूमक : [सिर झुकाकर] स्वीकार है, सम्राट्! [पुष्पिका के सिर को अपने घुटने पर रखता है।]

विक्रमादित्य : प्रायश्चित की दूसरी व्यवस्था यह है कि तुम जैन-धर्म को छोड़कर आर्य-धर्म का पालन करोगे और उसका प्रचार सौराष्ट्र के समीपवर्ती प्रदेश में करोगे। स्वीकार है?

भूमक : [सिर झुकाकर] स्वीकार है, सम्राट्!

विक्रमादित्य : गौ-ब्राह्मण की रक्षा करने का पुनीत कर्त्तव्य तुम्हारे जीवन का प्रथम कर्त्तव्य होगा। स्वीकार है?

भूमक : [सिर झुकाकर] मैं स्वीकार करता हूँ, सम्राट्!

विक्रमादित्य : तो आज अपनी सारी प्रतिज्ञाओं को भगवान् महाकालेश्वर के मन्दिर में अभिमंत्रित करो।

भूमक : मुझे स्वीकार है, सम्राट्! पुष्पिका के महान् उत्सर्ग में आपके

पात्र-परिचय :

आलमगीर औरंगज़ेब— मुगल सम्राट

जीनत उन्निसा वेगम—आलमगीर औरङ्गजेब की पुत्री

करीम— —एक सिपाही

हकीम और क़ातिब

स्थान— अहमदनगर का किला

समय— १८ फ़रवरी, सन् १७०७

रात्रि के ४ बजे

[बीजापुर और गोलकुण्डा की शिया रियासतों पर विजय प्राप्त करने के बाद जब औरङ्गजेब ने मराठों का अन्त करने का निश्चय किया तो उसे अपनी असफलता स्पष्ट दीख पड़ने लगी।

उसने जब छत्रपति शिवाजी के पुत्र शंभाजी को सपरिवार बन्दी कर लिया और उसके सामने इस्लाम धर्म में दीक्षित होने का प्रस्ताव रक्खा, तो शंभाजी ने घृणा के साथ प्रस्ताव को ठुकराते हुए औरङ्गजेब के प्रति अत्यंत कटु शब्दों का व्यवहार किया।

फलस्वरूप शंभाजी बड़ी निर्दयता के साथ कत्ल किया गया। उसके कत्ल होते ही मराठों में क्रांति की ज्वाला भड़क उठी। सत्रह वर्षों तक भयंकर संघर्ष होता रहा। इधर मुगल सेना दिनोंदिन विलासी बन रही थी। फलस्वरूप प्रत्येक लड़ाई में उसे बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती थी।

सन् १७०६ में औरङ्गजेब ने देखा कि उनकी सेना अब अत्यन्त विशृंखलित और आलसी हो गई है। राज्य की आर्थिक दशा भी चिंताजनक हो रही है। लड़ाई की हानि 'जजिया' कर से भी पूरी नहीं हो रही है। जलालुद्दीन अकबर के समय से संचित आगरा और दिल्ली के किलों की समस्त सम्पत्ति दक्षिण की लड़ाइयों में समाप्त हो चुकी है; तीन तीन महीनों से सिपाहियों और सिपहसालारों का वेतन नहीं दिया गया है।

राज्य की इस दुर्व्यवस्था के साथ वह अब वृद्ध हो गया है। पहले जैसी शक्ति अब उसके शरीर में नहीं रही। उसका विजय स्वप्न-निराशा में तिरोहित हो चला है। उसकी चिन्ताएँ उसे चैन नहीं लेने देतीं। अन्त में हताश होकर वह अहमदनगर लौट आया है।

इस समय वह अहमदनगर के किले में बीमार पड़ा हुआ है। उसका

शरीर टूट चुका है। उसे ज्वर और खाँसी है। इस समय उसकी अवस्था ८६ वर्ष की है। एक साधारण से पलंग पर लेटा हुआ है। सिरहाने सफेद रेशम का तकिया है, जिसके दोनों बाजुओं में जरी की हलकी पट्टियाँ हैं।

वह एक सफेद रेशम की चादर कमर तक ओढ़े हुए है। दुबला पतला शरीर। कटी-छटी सफेद डाढ़ी। नाक लंबी किंतु वृद्धावस्था के कारण कुछ झुकी हुई। वह सफेद लम्बा कुरता पहने हुए है, जो रेशमी तनी से दाहिने कन्धे पर कसा हुआ है। गले में मोतियों की एक बड़ी माला पड़ी हुई है जिसके मध्य में एक बड़ा नीलम जड़ा है। हाथ में तसबीह है।

आलमगीर की मुख-मुद्रा अत्यन्त मलीन और पश्चात्ताप से परिपूर्ण है। उसके दाहिनी ओर एक सुसज्जित पीठिका पर उसकी पुत्री जीनत उन्निसा बेगम बैठी हुई है। उसकी आयु ४० वर्ष के लगभग है। देखने में सौम्य और आकर्षक। वह नीले रङ्ग की रेशमी शलवार और प्याजी रङ्ग की ओढ़नी से सुसज्जित है। गले में रत्नों की माला है और कमर में मोतियों की पेटी कसी हुई है। उसके मुख पर भी भय और आशंका की रेखाएँ अंकित हैं।

कमरे में कोई विशेष सजावट नहीं है, किंतु सारे वायुमंडल में एक पवित्रता है। पलंग के सिरहाने दो शमादान जल रहे हैं। दूसरी ओर केवल एक है, जिससे आलमगीर की आँखों में चकाचौंध न हो। पलंग के दाहिने ओर जीनत उन्निसा की पीठिका के समीप ही एक बड़ी खिड़की है, जिससे हवा का मन्द झोंका आ रहा है। उससे घने अन्धकार के बीच में आकाश के तारे दिखाई पड़ रहे हैं।

आलमगीर के सामने कोने की ओर सोने के पिंजड़े में एक पक्षी बैठा हुआ है जो कभी-कभी अपने पंख फड़फड़ा देता है। पलङ्ग से कुछ हट कर सिरहाने की ओर एक तिपाई है जिस पर दवा की शीशियाँ रक्खी

हुई हैं। उसके समीप एक ऊँचे स्टैण्ड पर लम्बे मुँह वाली सोने की सुराही है, उसमें गुलाबजल रक्खा हुआ है। उसके पास ही एक सोने का प्याला एक रेशमी कपड़े से ढका हुआ है।

परदा उठने पर आलमगीर कुछ क्षणों तक बेचैनी से खाँसता है, फिर एक गहरी और भारी साँस लेकर शून्य की ओर देखता हुआ जीनत से कहता है :]

खाँसी...एक लहमे के लिए नहीं रुकती...कोई दवा उसे नहीं रोक सकती जीनत ! कोई दवा उसे नहीं रोक सकती...यह मौत की आवाज है। इसे कौन रोक सकता है ? [फिर खाँसता है]...मौत की आवाज !

जीनत : [धैर्य के स्वरों में] नहीं जहाँपनाह ! आपकी खाँसी बहुत जल्द अच्छी हो जायगी। हकीमों ने...

आलम : [बीच ही में] हकीमों ने...हकीमों ने कुछ नहीं समझा। कुछ नहीं समझा, उन्होंने। यह खाँसी कोई मर्ज नहीं है बेटी ! यह खाँसी सल्तनत के उखड़ने की आवाज है जो हमारे दम के साथ उखड़ना चाहती है। [मुँह बिगाड़ कर] उखड़े। कहाँ तक रोकेंगे हम ? [खाँसता है] कितने बलवाइयों को नेस्तनाबूद किया, कितने ग़दर रोके लेकिन...लेकिन यह खाँसी नहीं रुकती बेटी ! रुके भी कैसे ? [शिथिल स्वरों में] अब आलमगीर आलमगीर नहीं है !

जीनत : नहीं जहाँपनाह, आज भी हिन्दुस्तान और दकन आपके इशारे पर बनता और बिगड़ता है आपके तेवर देखकर अफगानिस्तान भी घुटने टेकता है। राजपूत, जाट, मराठे और सिख आज भी आपसे लोहा नहीं ले सकते।

आलम : लेकिन शिवाजी ले सकता था। हमारी थोड़ी सी लापरवाही से वह हाथ से निकल गया ! उसकी वजह से जिन्दगी भर परेशान

रहा। लेकिन था बहादुर और दिलेर...खैर, 'काफिर ब जहन्नम रफ्त' [खाँसता है] उसका बेटा शंभाजी...[रुक जाता है और गहरी साँस लेता है]

जीनत : छोड़िए इन बातों को जहाँपनाह ! ये बातें इस वक्त दिल और दिमाग दोनों को खराब करने वाली हैं। आप जैसे ही अच्छे होंगे...

आलम : [बीच ही में] अब अच्छे नहीं हो सकते जीनत ! चन्द घड़ियों की जिन्दगी ! कौन जाने कब खामोशी आ जाय। लेकिन बेटी हमने एक दिन भी आराम नहीं किया। [खाँसता है] एक दिन भी नहीं। राजपूत जैसी कौम पर हुकूमत करना जिन्दगी का आराम नहीं है। सबसे बड़ी मेहनत है। मराठों की हिम्मत पस्त करना जिन्दगी का सब से बड़ा करिश्मा है—वह हमने किया बेटी, वह हमने किया। लेकिन अब...अब हम कमजोर हो गए हैं। अब कुछ नहीं कर सकेंगे। [ठंडी साँस लेकर कलमा पढ़ता है] ला इलाहा इल्लिल्लाह मुहम्मदुर रसूलिल्लाह...

जीनत : आप सब कुछ कर सकेंगे जहाँपनाह ! अच्छा अब आप यह खाँसी की दवा खा लीजिये। [दवा देने के लिए उठती है] हकीम साहब दे गए हैं।

आलम : [तीव्र स्वर में] क्या हकीम साहब खुद नहीं आए ?

जीनत : आए थे। बड़ी देर तक आपका इंतजार करते रहे। आप होश में नहीं थे। वे थोड़ी देर के लिए बाहर चले गए हैं। उन्होंने अभी फिर आने को कहा है।

आलम : जो दवा वह दे गए हैं, वह उन्हें चखाई गई थी? [खाँसता है]

जीनत : जी, मैंने भी चखी थी। दवा में किसी तरह का शक नहीं है।

आलम : यह अहमदनगर है बेटी ! शिया रियासत बीजापुर और गोलकुंडा के करीब। दुश्मनी दोस्ती में छुप कर आती है। जिन्दगी में

यह हमेशा याद रखो।

जीनत : आपका कहना सही है, जहाँपनाह ! लेकिन दवा मैंने खुद चख कर देख ली है।

आलम : हमारे सामने नहीं चखी गई, जीनत ! लेकिन खैर कोई बात नहीं। दवा खाएँगे...लेकिन थोड़ी देर के लिए आराम, फिर वही तकलीफ। क्या करें दवा खाकर ! [जोर से खाँसी आती है] .. अच्छा लाओ, खाएँ तुम्हारी दवा। आबे हयात से बढ़ कर।

[आलमगीर हाथ बढ़ाता है। जीनत प्याले में दवा डाल कर देती है। आलमगीर उसे हाथ में लेकर देखता है। सोचता हुआ एक बार रुकता है फिर थोड़ी सी पीता है]

आलम : [गला साफ कर] पी ली तुम्हारी दवा बेटी ! इस दवा में जायके के साथ तुर्शी भी है। हुकूमत का प्याला भी ऐसा ही होता है।

जीनत : लेकिन आपने सब तुर्शी जायके में तबदील कर ली है।

आलम : नहीं जीनत, मराठों ने ऐसा नहीं होने दिया। हम कुराने पाक की कसम खाके कहते हैं कि हम मराठों का नामो निशान मिटाने में अपनी सारी सल्तनत की बाजी लगा देते, लेकिन...लेकिन अब वह हौसला नहीं रह गया। कमजोरी और बुढ़ापे ने हमें बेबस कर दिया है। [ठहर कर] हमारे बहुत से काम अधूरे पड़े हैं। काश, हमारी जिन्दगी के दिन अभी...खतम न ..होते...!

जीनत : [उत्साह से] अभी आप बहुत दिनों तक सलामत रहेंगे, आलमपनाह !

आलम : [विह्वल होकर] अह्, फिर एक बार कहो जीनत ! हम यह बात फिर से सुनना चाहते हैं। ओफ् . अगर हमारी जिन्दगी के दिन अभी खत्म न होते ! हम एक बार फिर शमशीर लेकर मैदाने-

जंग में जाते, बागियों से कहते—कम्बख्तो ! आलमगीर कमजोर नहीं है। उसकी तलवार में अब भी चिनगारियाँ हैं। घुटने टेक कर गुनाहों की माफी माँगो, नहीं काफिरो ! दोजख का रास्ता खून की नहर से है। हमारी शमशीर से कटो और दोजख में दाखिल... [आवेश में खाँसी रुकने पर भारी साँस लेता है] दोजख...में दाखिल...हो...!

जीनत : आप आराम करें, जहाँपनाह ! नहीं तो आपकी तबियत और भी खराब हो जायगी।

आलम : इससे जियादह और क्या खराब होगी, जीनत ! जब हम मौत के दरवाजे पर खड़े होकर दस्तक दे रहे हैं। चाहे जब खुल जाय। और आलमगीर के लिए जल्दी ही खुलेगा। देर नहीं हो सकती। मौत भी डरती होगी कि देर हो जाने से कहीं आलमगीर सजा न दे। [खाँसी] जिन्दगी भर सजा ! सजा ! [रुकते हुए] अब्बा-जान...को...भी...आँजहानी शाहेजहाँ को...[सोचता है]

जीनत : आलमपनाह ! तजकिरे न उठाएँ।

आलम : [भौंहों में बल देकर] क्यों न उठाएँ ? जिन्दगी भर गुनाहों का बोझ उठाया है तो मरते वक्त उसका तजकिरा भी न उठाएँ ? लेकिन जीनत ! हमने सैकड़ों बार अपने दिल को दिलासा देने की कोशिश की। हमने गुनाह कहाँ किए ? कुराने पाक की रूह से, शरअ से...इस्लाम का नाम दुनिया में बुलन्द करने के लिए—जिहाद के लिए, जो काम हमने किए क्या उनका नाम गुनाह है ? काफिरों को जहन्नुम रसीद किया...क्या यह गुनाह है ? उपनिषद् पढ़ने वाले दारा से सल्तनत छीनी...क्या यह गुनाह है ? नमूना-ए-दरबार-ए-इलाही में क्या मुझ से गुनाह हुए ? आलमगीर—जिन्दा पीर...! लेकिन कोई आवाज कानों में कहती है कि आलमगीर !

तूने इस्लाम का नाम लेकर दुनिया को धोका दिया है। तूने इस्लाम की हिदायतों को नहीं समझा। जीनत! तू [तू पर जोर] बतला यह आवाज ठीक है? क्या हमने इस्लाम के उसूलों को गलत समझा?

जीनत : [शान्ति से] आपसे कोई गलती नहीं हुई, जहाँपनाह!

आलम : [शून्य में देखता हुआ] हजारों सतनामियों को कत्ल किया...दारा, शुजा, मुराद को तख्ते-ताऊस का हक नहीं दिया और बाप को सात बरस तक...लम्बे सात बरस तक...!

जीनत : लेकिन आलमपनाह, अगर गौर से देखा जाय यो शाहंशाहे शाहेजहाँ को नजरबंद करना गलत नहीं कहा जा सकता। अपनी पीरी में वे अपनी आँखों से अपने बेटों का मजार देखते! क्या उन्हें तकलीफ न होती? आपने उन्हें उस तकलीफ से बचा लिया।

आलम : लेकिन उस तकलीफ के पैदा करने का जिम्मा किसका है? हमारा। हमने ही लाहौर में दारा की कब्र बनवाई। हमने ही आगरे में मुहम्मद को भेज कर अब्बाजान का महल कैदखाने में तब्दील कराया...! उस दास्तान को तुम जानती हो?

जीनत : जहाँपनाह! मुझसे वह दर्दनाक दास्तान क्यों दुहरवाना चाहते हैं? आप आराम कीजिए। आपकी तबियत ठीक नहीं है।

आलम : तो हम ही वह दास्तान कहेंगे जो हमने मुहम्मद से सुनी है। [शून्य में देखते हुए] आधी रात थी...कमरे में सिर्फ एक शमा जल रही थी...दूसरी शमा शाहंशाहे शाहजहाँ की आँखों में झिलमिला रही थी। वह चारपाई पर तसवीरे-संग की तरह लेटे हुए थे। उनकी पथराई आँखें दूर पर दिखाई देने वाले ताजमहल पर जमी हुई थीं...हलकी चाँदनी थी। शाहंशाह ने जहाँनारा से कहा—जहाँनारा, आलमगीर से पूछो, वह हमारी तरह ताजमहल

को तो कैद नहीं करेगा...?

जीनत : [आग्रह के स्वरों में] जहाँपनाह...

आलम : [उसी स्वप्न में] बादशाह की जबान तालू से सट गई थी... गला सूख रहा था। गहरी और सर्द साँस लेकर उन्होंने फरमाया—मुमताज हमारी बेगम ! ताज हमें पत्थरों से नहीं, आँसुओं से बनवाना चाहिए था...काश, यह मुमकिन हो सकता !

जीनत : [सहानुभूति के साथ] उन्हें बहुत तकलीफ थी, आलमपनाह ! लेकिन इस वक्त यह सब सोचना ठीक नहीं है। रात जियादह बीत रही है।

आलम : [चौंक कर तसबीह फेरते हुए] क्या कहा ? रात जियादह बीत रही है ? आज हमारे लिए भी शायद वही मौत की रात है। लेकिन हमारे सामने कोई ताजमहल नहीं है। [ठहर कर] हम इस लायक हैं भी नहीं, जीनत ! जिन्दगी में हमने कुछ नहीं किया सिर्फ लड़ाइयाँ ही लड़ी हैं। उन्हीं में हमने फतह हासिल की है, लेकिन आज...आज जिन्दगी में हमें शिकस्त ही मिली...भारी शिकस्त। हमने अब्बाजान को कैद नहीं किया, इस आखिर वक्त में अपने चैनो-सुकून को ही कैद किया। आज इतने बरसों के बाद अब्बाजान की चीख हमारे कानों में आ रही है...प्यास से उनका गला सूख रहा है। उनकी आवाज में कितना दर्द है...तुम सुन रही हो...? नहीं ? उनकी हसरत भरी निगाहों की टक्कर से ताजमहल जैसे चूर-चूर होने जा रहा है।

जीनत : [अत्यंत सान्त्वना के स्वरों में] जहाँपनाह ! वहाँ कुछ नहीं है। आप सोने की कोशिश कीजिए। जो कुछ हुआ उसे भूल...

आलम : [नींद ही में] नहीं भूल सकते जीनत ! हमने अपनी सल्तनत की इमारत को खुद नींव में दफन कर खड़ी की है। आज खुद

तड़प कर करवट लेना चाहती है। वह चीख रही है। तुम उसकी आवाज भी नहीं सुनना चाहतीं ?

जीनत : जहाँपनाह खुदा को याद कीजिए। सोने की कोशिश कीजिए। रात आधी से ज्यादा बीत चुकी है।

आलम : जिन्दगी उससे ज्यादा बीत चुकी है! [नेपथ्य की ओर उँगली उठाकर] देखती हो यह अँधेरा? कितना डरावना! कितना खौफनाक! दुनिया को अपने स्याह परदे में लपेटे हुए है। गोया यह हमारी जिन्दगी हो! इसमें कभी सुबह नहीं होगी जीनत? अगर होगी भी तो वह इसके काले समुन्दर में डूब जायगी। इस अँधेरे में सूरज भी निकले तो वह स्याह हो जायगा!...[रुककर] ओह...कितना अंधेरा है, खुदा! हमने तेरा नाम लेकर सल्तनत पर कब्जा किया, तेरा नाम लेकर औरतों और बच्चों को कैद किया, वे सब तेरे बच्चे! तेरे बन्दों पर एतबार नहीं किया। तेरा नाम लेकर...कुरान की कसम खाकर मुराद...भाई मुराद से सुलह की और फिर...और फिर...उसका खून...

[खाँसी आती है और फिर निश्चेष्ट हो जाता है]

जीनत : [घबराहट के स्वरों में] जहाँपनाह...! जहाँपनाह! [फिर पुकार कर] करीम, करीम!

[करीम सिपाही का प्रवेश। वह अदब से सलाम करता है]

जीनत : [आदेश के स्वरों में] हकीम साहब को फौरन यहाँ आने की इत्तला करो। बादशाह सलामत की तबियत खराब होती जा रही है। फौरन जाओ। हकीम साहब अमीरों के दूसरे कमरे में होंगे। फौरन...

करीम : जो हुक्म। [अदब के साथ सलाम कर प्रस्थान]

[जीनत के मुख पर घबराहट के चिह्न और स्पष्ट हो जाते हैं। वह

एक पंखे से हवा करती है। आलमगीर होश में आता है। धीरे-धीरे अपनी आँखें खोल कर जीनत को घूर कर देखता है]

आलम : [काँपते हुए स्वरों में] कौन...? अब्बाजान ! [आँखें फाड़कर] तुम ?...तुम जीनत हो ? अब्बाजान कहाँ गए ? अभी तो यहाँ आए थे। [सोचता हुआ] जर्द था उनका चेहरा...आँखों में आँसू थे। [ठण्डी साँस लेकर] इतने बड़े शाहंशाह की आँखों में आँसू ? उन्होंने हमारे सामने घुटने टेक दिए और कहा—शहंशाहे आलमगीर ! हमें हमारा बेटा औरंगजेब वापस कर दो ..! बादशाही लिबास में हमारा बेटा खो गया है...। उसे हमें वापस कर दो...! [कुछ ठहर कर] लेकिन जीनत ! वह बेटा कहाँ है ? उसने तो अपने अब्बाजान को कैद किया है। [इसी समय कमरे में टँगा हुआ पक्षी अपने पंख फड़फड़ा उठता है। आलमगीर उसकी तरफ चौंक कर देखता है] ..और यह परिन्दा अपने पर फैला कर हमसे कुछ कह रहा है...? क्या कहेगा ? इसे भी तो हमने सोने के पिंजड़े में कैद किया है ! [जीनत की ओर आग्रह से] जीनत ! इस पिंजड़े का दरवाजा खोल दो। [जीनत पिंजड़े का दरवाजा खोलती है] उसे निकालो। [जीनत परिन्दा पकड़ कर निकालती है] उड़ा दो उसे। [जीनत उसे खिड़की से बाहर उड़ा देती है। आलमगीर उसके उड़ने की दिशा में कुछ देर देख कर संतोष की गहरी साँस लेता है।] आ...जा...द ! [कुछ रुक कर] हम अब्बाजान को इस तरह आजाद नहीं कर सके ! हिन्दुस्तान के बादशाह को इस परिन्दे की किस्मत भी नसीब नहीं हुई !

जीनत : लेकिन आलमपनाह ! बादशाह तो न जाने कब के दुनियाँ की कैद से निकल कर आजाद हो गए। अब किस बात का मलाल है ? आप अपनी तबियत सँभालिए। मैंने हकीम साहब को बुलवाया है। वे आते ही होंगे।

आलम : [जीनत की बात जैसे उन्होंने सुनी ही नहीं] परिन्दे की किस्मत...बादशाह की किस्मत नहीं हो सकी...! इस अँधेरे में उस परिन्दे की किस्मत जगी है। वह खुश होकर शोर कर रहा है। बचपन में दारा भी इसी तरह शोर करता था। [रुक कर] कुछ वैसी ही आवाज आ रही है। [सुनते हुए] वह देखो। यह आ रही है। [रुक कर] लेकिन यह आवाज कैसी है ? इस खौफनाक अँधेरे में यह आवाज जैसे मुँह फाड़ कर खाने को दौड़ रही है। यह आई ! जीनत यह आवाज सुनती हो ?

जीनत : [आश्चर्य से] कैसी आवाज ? कौन सी आवाज ? जहाँपनाह !

आलम : [आँखें फाड़ कर] अरे, इतने जोर से आवाज आ रही है और तुम्हें सुनाई नहीं पड़ती ? यह देखो। [सुनते हुए] फिर आई। यह हर लमहे तेज होती जा रही है। जीनत ! [पुकार कर] जीनत ! यह आवाज ! [चीख कर] यह खौफनाक...आवाज !

जीनत : [धैर्य के स्वरों में] कोई आवाज नहीं है, जहाँपनाह ! आपकी तबियत में घबराहट है। इसी वजह से ऐसा खयाल पैदा हो रहा है। [विश्वासपूर्वक] कहीं कोई आवाज नहीं है। आप अपने को सँभालने की कोशिश करें।

आलम : [घबराहट से कुछ उठ कर] नहीं, नहीं, यह आवाज बराबर आ रही है। कोई चीख रहा है। [संकेत कर] यह देखो। अँधेरे में यह कौन झाँक रहा है ? कौन ? [जोर से] कौन ? [पुकार कर] सिपहसालार ?

जीनत : [समीप होकर] कोई नहीं है जहाँपनाह ! सिपहसालार की जरूरत नहीं है।

आलम : [घबराहट से भराए हुए स्वर में] यह खिड़की के पास कौन है ? [संकेत करते हुए] कराहता हुआ, चीखता हुआ ! ओह उसने

फिर चीख भरी, अरे दारा...! [काँपता हुआ] दारा तुम हो? हमने तुम्हारा खून नहीं किया ! हमने नहीं किया, दारा ! हुसेनखाँ जबरदस्ती तुम्हारे कमरे में घुस गया। हमने उसे हुक्म नहीं दिया था। और...और...[काँप कर] तुम्हारा सर कहाँ है दारा? तुम्हारा सर किधर गया? [आलमगीर उठ खड़ा होता है। फिर लड़खड़ाते हुए] हम खोज कर लाएँगे। हम अभी खोज कर लाएँगे। [हाथ फैलाते हुए] तुम्हारा इतना खूबसूरत सर...!

[जीनत उसे रोक कर फिर पलंग पर लिटा देती है। आलमगीर अचेत हो जाता है।]

जीनत : [अपने आँचल से अपने माथे का पसीना पोंछते हुए] जहाँ-पनाह...!

[करीम का प्रवेश।]

करीम : [अदब से सलाम करके] शाहजादी ! हकीम साहब तशरीफ लाए हैं।

जीनत : [शीघ्रता से] फौरन उन्हें अन्दर भेजो, इसी वक्त।

करीम : [सलाम कर] जो हुक्म। [शीघ्रता से प्रस्थान]

जीनत : [कम्पित स्वर में आँखों में आँसू भर कर] क्या जानती थी कि अहमदनगर में यह सब होगा ! या खुदा ! [आलमगीर को चादर उढ़ाती है।]

[हकीम साहब का प्रवेश ! लंबी दाढ़ी, काला चोगा, सर पर अमामा, सफेद पजामा और जरी के जूते। साथ में दवाओं का एक संदूकचा]

हकीम : [बादशाह को अदब से सलाम करने के बाद जीनत को सलाम करता है।]

जीनत : [कम्पित स्वर में] आलमपनाह को होश नहीं है, हकीम

साहब ! [उठ कर हकीम साहब के पास आती है] आज रात को आलमपनाह की तबियत बहुत ही खराब रही। जानें उन्हें क्या हो गया है ! जागते हुए ख्वाब देखते हैं और चीख उठते हैं ! एक लमहा उन्हें चैन नहीं है। [करुण स्वर में] अब आप ही मेरे नाखुदा हैं। तबियत घबराती है। जहाँपनाह को अच्छा कर दीजिए, जल्द अच्छा कर दीजिए।

हकीम : जहाँपनाह को होश नहीं है ! [गम्भीर और सान्त्वना के स्वरों में] घबराइए नहीं, घबराइए नहीं शाहजादी ! खुदा पर भरोसा रखिए। वह चाहेगा तो इंशाअल्लाह बादशाह सलामत बहुत जल्द अच्छे हो जायेंगे। देखिए, मैं दवा देता हूँ। बादशाह सलामत अभी होश में आए जाते हैं। घबराने की कोई बात नहीं।

जीनत : [विकृत स्वर में] मेरी समझ में कुछ नहीं आता कि मैं क्या करूँ !

हकीम : इतमीनान के साथ आप बादशाह सलामत को पंखा झलें। मैं उन्हें होश में आने की दवा देता हूँ।

[हकीम अपने संदूकचे में से एक टिकिया निकालता है। जीनत पंखा झलती है]

हकीम : [डिबिया का ढक्कन खोलते हुए] अब बादशाह सलामत की खाँसी कैसी है ?

जीनत : खाँसी में बहुत आराम है। पहले तो वे हर बात कहने में खाँसते थे। आपकी दवा से उनकी खाँसी बहुत कुछ रुक गई, लेकिन घबराहट बहुत जियादह बढ़ गई है। [पंखा झलती है]

हकीम : घबराहट भी दूर हो जायगी। [आलमगीर की नाक के समीप बहुत आहिस्ते से डिबिया ले जाता है।] अभी जहाँपनाह को होश आता है। आप सब्र करें।

में आए हैं, जहाँपनाह।

आलम : [गम्भीर किन्तु रुकते हुए स्वरों में] लेकिन जीनत, इस होश से हमारी बेहोशी अच्छी है। गुनाहों की याद अब बरदाश्त... [रुककर चौंककर, अपनी बात पलटते हुए] हकीम साहब, कमजोरी की हालत अब बर्दाश्त नहीं होती। ऐसी दवा दीजिए कि बेहोशी का आलम रहे। [रुक कर] आपके पास—शराब को छोड़कर—कोई ऐसी दवा है ?

हकीम : जहाँपनाह ! आपकी कमजोरी बहुत जल्द रफा हो जायगी।

आलम : [तीव्रता से] हमारे सवाल का जवाब दीजिए हकीम साहब ! आपके पास शराब को छोड़ कर कोई ऐसी दवा है ?

हकीम : [घबरा कर हकलाते हुए] जी, ऐसी दवाएँ तो बहुत हैं आलमपनाह ! लेकिन आपको—अपने जहाँपनाह को कैसे दे सकता हूँ ? ये दवाएँ आपके लिए नहीं हैं, आलमपनाह !

आलम : [आँखें फाड़ कर] आलमपनाह के लिए नहीं हैं ? कौन-सी दौलत है जो आलमगीर के लिए नहीं है ? इस वक्त बेहोश हो जाने की दवा हमारे लिए सब से बड़ी दौलत है। हकीम साहब, हम इस वक्त वही चाहते हैं।

जीनत : [भृकुटि-संचालन के साथ] हकीम साहब, आपके पास एक ऐसी दवा भी तो है जिसमें थोड़ी देर की बेहोशी के बाद सारी कमजोरी दूर होकर तबियत में ताजगी आती है [घूर कर देखती है]

हकीम : [संभल कर] हाँ, हाँ, एक ऐसी दवा मेरे पास है। मेरे वालिद साहब ने मुझे यह नुसखा देकर कहा था कि जब सब दवाएँ बेकार साबित हों तब उसका इस्तेमाल किया जाय। [झिझकते हुए] मैं अभी उसका इस्तेमाल नहीं करना चाहता था।

आलम : [आत्मग्लानि से] और जहाँपनाह, इस वक्त वह दवा न खाई

जाय तो बेहतर होगा। सुबह होने में जियादह देर नहीं है। और अजान का वक्त करीब आ रहा है! आप खुदा की इबादत न कर सकेंगे। अभी वह दवा रहने दें।

आलम : यह बात ठीक कह रही हो बेटी। अच्छा, अभी वह दवा रहने दीजिए, हकीम साहब। आप अजान होने के वक्त तक दूसरी दवा दें सकते हैं।

हकीम : बसरोचश्म। [शाहजादी से] शाहजादी, आप मुझे एक प्याला इनायत फरमावें, मैं कमजोरी दूर करने की दवा अभी पेश करूँ।

जीनत : [प्याला उठा कर] यह लीजिए।

हकीम : [अपने संदूकचे में से एक दवा निकालते हुए] खुदा चाहेगा तो आपको फौरन आराम होगा। सितारों की नहूसत दफा होगी। [प्याले में दवा डालते हुए] आलमपनाह, हमीदुद्दीनखाँ ने तो सितारों की नहूसत दूर करने के लिए ४,००० रु. का एक हाथी आलमपनाह पर तसद्दुक कर दिया होगा?

आलम : [गम्भीर स्वर में] नहीं। जुमेरात को हमीदुद्दीनखाँ ने नुजूमियों के कहने के मुताबिक तसद्दुक करने के बारे में एक दरख्वास्त जरूर पेश की थी, लेकिन हमने उस दरख्वास्त में यह बढ़ा दिया कि यह तो अंजुमपरिस्तों का रिवाज है। इसके बजाय ४,००० रुपया काजी को गुरबा में तकसीम करने के लिए दे दिया जाय।

हकीम : [उत्साह से आँखें चमकाकर] आलमपनाह ने क्या बात कही है! अब तो सितारों की नहूसत दूर होने में कोई अंदेशा भी नहीं रह गया और मुझे भी यह कामिल यकीन है कि यह अरक़ आपको ऐसी ताकत देगा कि आप तन्दुरुस्त होकर अपनी रिआया के दर्दोगम को दूर करते हुए सौ साल तक सलामत रहेंगे।

आलम : [सोचते हुए] सौ साल तक! यानी ग्यारह बरस और। लेकिन हकीम साहब, हम ग्यारह दिन भी जिन्दा नहीं रहेंगे। बेटी,

को भी तो बादशाहत करने का मौका मिले। हमारे बेटे [सोचता हुआ] मुअज्जम...आजम...कामबख्श...

हकीम : [दवा का प्याला सामने करते हुए] यह सही है आलमपनाह, लेकिन मुझे भी अपनी खिदमत करने का मौका दें। मैंने अपनी हिकमत की बेहतरीन दवा आलमपनाह के रूबरू पेश की है।

आलम : [जीनत से] अच्छा जीनत, यह दवा रख लो। इसे हम नमाज के बाद पियेंगे। अब आप तशरीफ ले जा सकते हैं। [जीनत दवा का प्याला ले लेती है]

हकीम : [सिर झुकाकर] जो जहाँपनाह का हुक्म। लेकिन एक गुजारिश है।

आलम : क्या?

हकीम : [हाथ जोड़कर] आलमपनाह कुछ न सोचें, कोई गुफ्तगू न करें। इस वक्त आराम करना खुद एक मुफीद दवा होगी। सुबह होते ही आलमपनाह की तबियत अच्छी मालूम होगी।

आलम : अच्छी बात है; हम कुछ न सोचेंगे। कुछ गुफ्तगू न करेंगे। लेकिन हम अपने बेटों को खत तो लिखवा सकते हैं ?...[सोचकर] यही करेंगे। हकीम साहब, अब आप तशरीफ ले जाइए। हमें अपने बेटों की याद आ रही है।

हकीम : जो हुक्म। [बादशाही अदब के अनुसार सलाम करके प्रस्थान]

आलम : [सोचते हुए] हकीम साहब कहते हैं कि हम कुछ न सोचें, कोई गुफ्तगू न करें, सुबह होते ही तबियत अच्छी मालूम होगी।...लेकिन जीनत, हम जानते हैं कि हमारी तबियत अच्छी नहीं होगी। हमने अपनी किश्ती समन्दर में छोड़ दी है। अब साहिल दूर होता जा रहा है।

जीनत : तबियत में घबराहट होने की वजह से आलमपनाह ऐसा

फरमा रहे हैं। अब आपकी तबियत अच्छी होने जा रही है। हकीम साहब की दवा बहुत मुफीद साबित हुई है। देखिए आपकी खाँसी को कितना फायदा पहुँचा है।

आलम : [जोर देकर] तुम नहीं समझीं जीनत ! जिस तरह सुबह होने के पहले रात और भी सुनसान और खामोश हो जाती है, उसी तरह मौत से पहले हमारी सारी शिकायतों का शोर खामोश हो गया है। अब हमारा आखिरी वक्त करीब है।

जीनत : [आँखों में आँसू भर कर] ऐसा न कहें आलमपनाह !

आलम : [गहरी साँस लेकर] और जीनत, हमारी बेटी ! आज इस आखिरी वक्त में हमारे बिस्तर के नजदीक हमारा एक भी बेटा नहीं है। ऐसे बाप को तुम क्या कहोगी जिसने बादशाहत में खलल पड़ने के वहम से अपने कलेजे के टुकड़ों को सजा देकर हमेशा कैदखाने में रक्खा ? अपने नजदीक आने भी नहीं दिया ! [सोचते हुए] हमारे कैदी बच्चो, तुम बदकिस्मत हो कि आलमगीर तुम्हारा बाप है। तुमने और कोई गुनाह नहीं किया। तुम लोगों का सिर्फ यही गुनाह है कि तुम औरंगजेब के बेटे हो। आज तुम्हारा बाप मौत के दरवाजे पर पहुँच कर तुम्हारी याद कर रहा है !...मुअज्जम आजम...कामबख्श...!

जीनत : [आग्रह से] जहाँपनाह, मैं उन लोगों तक आपके ये मुहब्बत भरे अल्फाज जरूर पहुँचा दूँगी।

आलम : [संतोष से] हम अपनी कब्र से भी तुम्हें दुआ देंगे, बेटी, हम खुद अपने बच्चों को खत लिखाना चाहते हैं। इस आखिरी वक्त में हमारी ख्वाहिश पूरी होने दो। कातिब को बुलाओ। [ठंडी साँस लेता है]

जीनत : आपका हुक्म पूरा होगा अब्बाजान ! [पुकार कर] करीम !

ज़ीनत : नहीं, आलमपनाह। खानदाने तैमूरी में आपसे ब कर अद्ल करनेवाला कोई नहीं हुआ।

आलम : और उस अद्ल में हमने अपनी मुराद पूरी की!...मुराद [मु़ाद शब्द से मुरादबख्श का स्मरण आने पर] और हमारे मुरादबख्श ने सामूगढ़ की लड़ाई में हमारे कहने पर दारा से लोहा लिया। कितनी हैरतअंगेज जंग थी वह! [सोचते हुए] राजा रामसिंह ने तलवार का ऐसा हाथ चलाया कि हम मय हाथी के जमींदोज हो जाते, लेकिन मुरादबख्श...मुरादबख्श ने अपनी ढाल पर तलवार रोक, राजा रामसिंह पर ऐसा वार किया कि वह हाथी के पैरों पर आ गिरा। उसका केसरिया बाना खून से लथपथ होकर जमीन पर फैल गया, और बस इस सबका बदला मुरादबख्श को क्या मिला! ओह...पा...नी...

[जीनत फिर पानी पिलाती है]

ज़ीनत : हुजूरेआली, आपसे दस्तबस्ता अर्ज है कि आप अब कुछ न फरमावें। ऐसी बातें करके आप अपनी हालत और खराब कर लेते हैं।

आलम : [उतावली से] इस वक्त हमें मत रोको जीनत उन्निसा! हमें मत रोको। हम कहेंगे, जरूर कहेंगे। बुझने से पहले शमा की लौ भड़क उठती है। हमारी याददाश्त भी ताजी हो रही है। एक एक तसवीर आँखों के सामने आ रही है। हम हाथी पर बैठकर सैरगाह जा रहे हैं। आगे पीछे हिन्दुओं का बेशुमार मजमा है। वे चीख चीख कर कह रहे हैं कि आलमपनाह, जजिया माफ कर दीजिए। लेकिन हम माफ कैसे कर सकते हैं? दकन की लड़ाइयों का खर्च कहाँ से आएगा? हम कहते हैं...तुम काफिर हो! जजिया नहीं हटेगा। वे लोग हमारे रास्ते पर लेट जाते हैं। हमारा हाथी आगे नहीं बढ़

रहा है। हम गुस्से में आकर फीलवान को हुक्म देते हैं, इन कम्बख्तों पर हाथी चला दो। हाथी आगे बढ़ता है और सैकड़ों चीखें हमारे कान में पड़ती हैं !...हम हँस कर कहते हैं काफिरो, तुम्हारी यही सजा है। जजिया माफ नहीं हो सकता...नहीं हो सकता...!

जीनत : [आँखों में आँसू भर कर] आलमपनाह !

आलम : [उसी स्वर में] आज वह हाथी हमारे सामने झूम रहा है। मालूम होता है वह हमारे कलेजे को चूर चूर करता हुआ जा रहा है। जीनत, हमारा कलेजा टुकड़े टुकड़े हुआ जा रहा है...। इसकी दवा तुम्हारे हकीम साहब के पास नहीं है।

जीनत : [कातर स्वर में] आलमपनाह, आप यह दवा पी लीजिये। इस दवा से आपको बहुत फायदा होगा। [दवा का प्याला आगे बढ़ाती है]

आलम : [भारी साँस लेकर] जिसने सारी जिन्दगी खून का जाम पिया है उसे दवा का जाम क्या फायदा करेगा ? इसे फेंक दो जीनत, उस खिड़की की राह फेंक दो।

जीनत : आलमपनाह ! यह दवा...[हिचकती है]

आलम : [तीव्र स्वर में] जीनत ! हम अब भी हिन्दुस्तान के बादशाह हैं। हमारे हुक्म की शमशीर अब भी तेज है। फेंको वह दवा।

[जीनत खिड़की की राह से वह दवा फेंक देती है]

आलम : [संतोष से] हम खुश हुए [ठहर कर] सोचो, जो दवा हकीम ने नहीं चक्खी, वह दवा हमारे काम की नहीं है। अहमदनगर का हकीम आगरे और दिल्ली का हकीम नहीं है।

जीनत : तो जहाँपनाह वह दवा मैं चख लेती।

आलम : जीनत, जिन्दगीभर हमने अपने ही मकान में आग लगाई है

आलम : हम अकेले जा रहे हैं...तुम बेसहारे हो, इसका हमें मलाल है...! लेकिन इससे क्या फायदा...? जो सजाएँ हमने दी हैं...जो गुनाह हमने किए हैं...जो बेइंसाफियाँ हमने की हैं...इन सबका अजाब हम अपने आगोश में लिए हैं...हम तुम खुदा पर छोड़ते हैं। अपनी माँ उदयपुरी को तकलीफ मत देना...! मैं रुखसत होता हूँ...अलविदा...! [थोड़ी देर तक स्तब्धता रहती है]

जीनत : [करुण स्वर में] अब्बाजान, आप ऐसा खत क्यों लिखा रहे हैं ?

आलम : [जीनत की बात पर कुछ ध्यान न देकर] जीनत, मेरी बेटी, इस जिन्दगी के चिराग में अब तेल बाकी नहीं रहा...! इस खाक के पुतले को कफन और ताबूत की जेबाइश की जरूरत नहीं...! इस बदनसीब को जमीन में यों ही दफन कर देना...इस पुश्ते खाक को पहली ही मंज़िल पर सिपुर्द खाक कर दिया जाय...हमें खुशी होगी अगर हमारी कब्र पर कुदरती सब्ज मलमल की चादर बिछी होगी...[कुछ देर ठहर कर] आँजहानी हमारे गुनाहों को बख्श दीजिए...! दारा...! शुजा...! मुराद...!

[इसी समय बाहर 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि में अजान होती आलमगीर ध्यान से सुनता है। उसके ओठों में कुछ स्पन्दन होता है, फिर एक झटके के साथ सिर उठा कर अजान आने की दिशा में नेपथ्य की ओर देखता है।]

आलम : [तसबीह फेरते हुए नेपथ्य की ओर देख कर रुकते किन्तु स्पष्ट स्वरों में।

अल्ला...हो...अक...

['अकबर' का अन्तिम अंश 'बर' ओठों ही में रह जाता है और तकिए पर आलमगीर का सिर झटके से गिर पड़ता है।]

ज़ीनत : [शीघ्रता से आलमगीर के सिर के समीप जाकर रुँधे हुए कंठ से] आलमपनाह...अब्बा...जान...!

[कोई जवाब नहीं मिलता। बाहर अज़ान होती रहती है। ज़ीनत अपने आँचल से आँसू पोंछती हुई आलमगीर का मुँह सिरहाने पड़े हुए रेशमी कपड़े से ढाँप देती है।]

•

[परदा गिरता है]

•

आलम : हम अकेले जा रहे हैं...तुम बेसहारे हो, इसका हमें मलाल है...! लेकिन इससे क्या फायदा...? जो सजाएँ हमने दी हैं...जो गुनाह हमने किए हैं...जो बेइंसाफियाँ हमने की हैं...इन सबका अजाब हम अपने आगोश में लिए हैं...हम तुम खुदा पर छोड़ते हैं। अपनी माँ उदयपुरी को तकलीफ मत देना...! मैं रुखसत होता हूँ...अलविदा...! [थोड़ी देर तक स्तब्धता रहती है]

जीनत : [करुण स्वर में] अब्बाजान, आप ऐसा खत क्यों लिखा रहे हैं ?

आलम : [जीनत की बात पर कुछ ध्यान न देकर] जीनत, मेरी बेटी, इस जिन्दगी के चिराग में अब तेल बाकी नहीं रहा...! इस खाक के पुतले को कफन और ताबूत की जेबाइश की जरूरत नहीं...! इस बदनसीब को जमीन में यों ही दफन कर देना...इस पुश्ते खाक को पहली ही मंज़िल पर सिपुर्द खाक कर दिया जाय...हमें खुशी होगी अगर हमारी कब्र पर कुदरती सब्ज मलमल की चादर बिछी होगी...[कुछ देर ठहर कर] आँजहानी हमारे गुनाहों को बख्श दीजिए...! दारा...! शुजा...! मुराद...!

[इसी समय बाहर 'अल्लाहो अकबर' की ध्वनि में अजान होती आलमगीर ध्यान से सुनता है। उसके ओठों में कुछ स्पन्दन होता है, फिर एक झटके के साथ सिर उठा कर अजान आने की दिशा में नेपथ्य की ओर देखता है।]

आलम : [तसबीह फेरते हुए नेपथ्य की ओर देख कर रुकते किन्तु स्पष्ट स्वरों में।

अल्ला...हो...अक...

['अकबर' का अन्तिम अंश 'बर' ओठों ही में रह जाता है और तकिए पर आलमगीर का सिर झटके से गिर पड़ता है।]

ज़ीनत : [शीघ्रता से आलमगीर के सिर के समीप जाकर रुँधे हुए कंठ से] आलमपनाह...अब्बा...जान...!

[कोई जवाब नहीं मिलता। बाहर अजान होती रहती है। जीनत अपने आँचल से आँसू पोंछती हुई आलमगीर का मुँह सिरहाने पड़े हुए रेशमी कपड़े से ढाँप देती है।]

[परदा गिरता है]
